वर्ष ४६] * [अङ्क १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६६,५००

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, दिसम्बर १९७२

विषय — पृष्ठ-संख्या

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीराम-वनगमन

चढ़ि रथ सीय सहित दोउ भाई। चले हृदयँ अवधहि सिरु नाई॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण
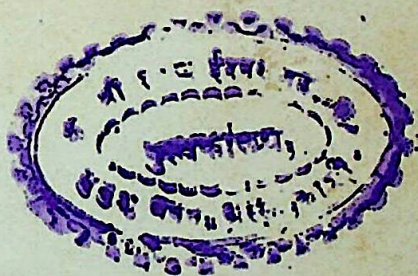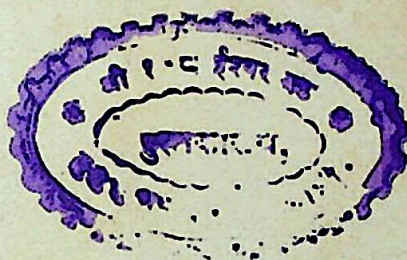
दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा । पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥

(रामरक्षास्तोत्र ३१)

वर्ष ४६ } गोरखपुर, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, दिसम्बर १९७२ { संख्या १२ पूर्ण संख्या ५५३

श्रीराम-वन-गमन

आजु रघुनाथ पयानौ देत।
बिह्वल भए स्रवन सुनि पुरजन, पुत्र-पिता कौ हेत ॥
ऊँचें चढ़ि दसरथ लोचन भरि सुत-मुख देखें लेत।
रामचंद्र-से पुत्र बिना मैं भूँजब क्यौं यह खेत ॥
देखत गमन नैन भरि आए, गात गह्यौ ज्यौं केत।
तात-तात कहि बैन उचारत, ह्वै गए भूप अचेत ॥
कटि-तट तून, हाथ सायक, धनु, सीता-बंधु समेत।
'सूर' गमन गह्वर कौ कीन्हौ, जानत पिता अचेत ॥

—सूरदास

कल्याण

संतोंने इस जगत्को 'दुःखालय' कहा है अर्थात् जगत्में दुःख-ही-दुःख है, सुखका कहीं भी लेश भी नहीं है। जन्ममें दुःख, शैशवमें दुःख, जरादुःख, रुग्णावस्थामें दुःख—सभी अवस्थाओंमें दुःख-ही-दुःख है। धनके उपार्जनमें दुःख, उपभोगमें दुःख तथा उसके विनाशमें दुःख। इस प्रकार जगत् दुःखालय ही है। जगत्से उपरति करनेमें यह दृष्टिकोण सहायक होता है।

दूसरा दृष्टिकोण है, जिसमें भगवान्के अतिरिक्त किसी दूसरेकी सत्ता ही नहीं है। जो कुछ है, भगवान् ही हैं। गीतामें भगवान्ने कहा भी है—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
(७।७)

'मेरे सिवा किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।' और भी वचन हैं—'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः' (हरि जगत्‌रूप हैं और जगत् हरिरूप है) इस दृष्टिकोणसे देखनेपर जगत्में सुख-ही-सुख है, दुःखका कहीं नाम भी नहीं है; क्योंकि जो कुछ है, सब भगवान् ही हैं।

किसी भी वस्तुके दो कारण होते हैं—एक उपादानकारण, एक निमित्तकारण। कुम्हार मिट्टीसे घड़ा बनाता है। मिट्टी उपादानकारण है और कुम्हार निमित्तकारण। परंतु जगत्के निर्माणमें तो बनानेवाले भी वे ही और बननेवाले भी वे ही; जिससे बना, वह भी वे ही और बननेकी क्रिया भी वे ही हैं। अतः भगवत्कृपा-से जिनकी आँख खुल जाती है, वे जगत्के रूपमें तथा जगत्के प्रत्येक व्यापारके रूपमें भगवान्का ही अनुभव करते हैं। अनेकों भक्तोंने अपने जीवनमें ऐसा प्रत्यक्ष करके दिखाया है। रानी रत्नावतीको मारनेके लिये खूँखार सिंह छोड़ा गया। भक्तिमती रानीकी दृष्टिमें अपने भगवान्के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु थी ही नहीं। सिंहके रूपमें भी उसने अपने प्रभुके दर्शन करके उनका स्वागत किया। खूँखार सिंह रानीके सम्मुख उनकी अर्चना स्वीकार करनेके लिये शान्त-भावसे खड़ा हो गया। राजाने सिंहको नकली समझकर उसकी परीक्षा लेनेके लिये उसे खुला छुड़वाया। सिंह द्वारपालोंपर झपटा और उसने उनका काम तमाम कर दिया। इसी प्रकार भक्त प्रह्लादको तप्त खंभेमें भी भगवान्के दर्शन हुए और वह उससे चिपट गया।

इस प्रकार जगत्में जो कुछ है, वह भगवान् हैं और जो कुछ हो रहा है, वह सब भगवान्का खेल है—जन्म भी खेल है, मृत्यु भी खेल है, वृद्धावस्था भी खेल है, बीमारी भी खेल है। अतः जो दुःखसे छूटना चाहता है, उसे चाहिये कि वह दुःखके रूपमें—दुःखकी स्थितिके रूपमें भगवान्को देखे। जब भी कोई दुःखकी स्थिति सामने आये, तुरंत कह उठे—'भगवन्! अच्छा स्वाँग भरकर आये; आइये मेरे नाथ! मैं आपको गले लगाता हूँ'—

देख दुःखका वेष धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे, नाथ!
जहाँ दुःख, वहाँ देख तुम्हें मैं पकड़ूँगा जोरोंके साथ॥
नाथ! छिपा लो तुम मुँह अपना चाहे अति अँधियारेमें।
मैं लूँगा पहचान तुम्हें इक कोनेमें, जग सारेमें॥
रोग-शोक, धन-हानि, दुःख, अपमान घोर, अति दारुण क्लेश।
सबमें तुम, सब ही हैं तुममें, अथवा सब तुम्हरे ही वेश॥
तुम्हरे बिना नहीं कुछ भी जब, तब फिर मैं किस लिये डरूँ।
मृत्यु-साज सज यदि आओ तो, चरण पकड़ सानन्द मरूँ॥
दो दर्शन, चाहे जैसा भी दुःख-वेष धारणकर नाथ!
जहाँ दुःख, वहाँ देख तुम्हें, मैं पकड़ूँगा जोरोंके साथ॥

जो इस प्रकार दुःख, रोग, अपमान, क्लेश आदिके रूपमें भगवान्के दर्शनकर उनका स्वागत करता है, वह कृतार्थ हो जाता है तथा दूसरोंको भी कृतार्थ करता है।

'श्रीभाईजी'

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

प्रयत्न करनेपर भी सुखकी प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

संसारमें सभी लोग सुखकी खोजमें हैं, सभी परमानन्द पाना चाहते हैं तथा रात-दिन सुख ही प्राप्त करनेकी चेष्टामें लगे हुए हैं; परंतु सुख तो दूर रहा, असली सुखकी तो छाया भी नहीं मिलती—इसमें क्या कारण है ? इतना प्रयत्न करनेपर भी सुख क्यों नहीं मिलता ?

इस प्रश्नपर विचार करनेपर यह पता चलता है कि हमारे सुखकी प्राप्तिमें तीन बड़े बाधक—शत्रु हैं। उन्हींके कारण हम सुखके समीप नहीं पहुँच पाते। वे हैं—मल, विक्षेप और आवरण।

'मल' है—मनकी मलिनता, 'विक्षेप' है—चञ्चलता और 'आवरण' है—अज्ञानका पर्दा। जबतक इन तीनोंका नाश नहीं होता, तबतक यथार्थ सुखकी प्राप्ति असम्भव है। इसमें आवरणका नाश तो सहज ही हो सकता है। आवरणको हटानेके लिये खास प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् स्वयं बुद्धियोग प्रदान करके सारा मोह हर लेते हैं। भगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १०। ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

जबतक मन मलिन और चञ्चल है, तबतक प्रेमपूर्वक भजन ही नहीं होता, फिर बुद्धियोग कहाँसे मिले। पापके कारण मनमें जो अनेकों प्रकारके मलिन विचार उठा करते हैं, एकान्तमें ध्यानके लिये बैठनेपर जो बुरे-बुरे भाव मनमें उत्पन्न होते हैं, यही मनकी मलिनता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, मद, अभिमान, कपट, ईर्ष्या आदि दुर्गुण और दुर्भाव मलके ही कारण होते हैं। जिस व्यक्तिमें ये दोष जितने अधिक हैं, उसका चित्त उतना ही मलसे आच्छन्न है।

मल-दोषके नाशके लिये कई उपाय बतलाये गये हैं। इनमेंसे प्रधान दो हैं—भगवान्‌के नामका जप और निष्काम कर्म। भगवान्‌का नाम पापके नाशमें जादूका-सा काम करता है। नाममें पापनाशकी अपरिमेय शक्ति है। परंतु नाममें प्रीति, श्रद्धा और विश्वास होना चाहिये। जैसे लोभी व्यापारीका एकमात्र ध्येय रुपया पैदा करना और इकट्ठा करना होता है और जैसे वह निरन्तर उसी ध्येयको ध्यानमें रखकर सब काम करता है, ठीक उसी प्रकार भगवत्प्रेमको लक्ष्य बनाकर हमें रामनामरूपी सच्चा धन एकत्र करना चाहिये—

कबिरा सब जग निरधना, धनवंता नहिं कोय।
धनवंता सो जानिये, जाके रामनाम धन होय॥

इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगसे भी मलका नाश होता है। निष्काम कर्मयोगके प्रधान दो भेद हैं—भक्तिप्रधान कर्मयोग और कर्मप्रधान कर्मयोग। पहलेमें भक्ति मुख्य होती है और दूसरेमें कर्मकी मुख्यता होती है। इन दोनोंमें भक्तिप्रधान कर्मयोग विशेषरूपसे श्रेष्ठ है। वास्तवमें दोनोंमें ही भगवत्-प्रीति ही लक्ष्य है, अन्य

कोई भी स्वार्थ नहीं है। स्वार्थका अभाव हुए बिना कर्मयोग बनता ही नहीं। फलासक्तिको त्यागकर भगवत्प्रेमके लिये जो शास्त्रोक्त कर्म किये जाते हैं, उन्हीं-को निष्काम कर्मयोग समझना चाहिये। इस निष्काम कर्मयोगसे हमारे मनके मलरूप दुर्गुणों और दुराचारोंका नाश होकर सद्गुण, सदाचार, शान्ति और सुखकी प्राप्ति होती है, सात्त्विक भावों और गुणोंका परम विकास होता है। इस प्रकार मलदोषका नाश होनेपर विक्षेप अपने आप ही मिट जाता है और चित्त परम निर्मल और शान्त होकर भगवान्‌की भक्तिमें लग जाता है। तदनन्तर भगवत्कृपासे आवरणका भङ्ग हो जाता है। आवरणका नाश होते ही परमानन्दकी प्राप्ति होती है और मानव-जीवन सफल हो जाता है। मुक्ति अथवा भगवत्साक्षात्कार करनेके लिये निष्कामभावसे की हुई भगवान्‌की भक्तिसे बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है। हमारा लक्ष्य यही रहे कि भगवान्‌में हमारा अनन्य प्रेम हो। इसीके लिये तत्परतासे चेष्टा हो। सफलता चाहने-वाले सभी लोग अपना लक्ष्य बनाकर चलते हैं, सब अपने जीवनका एक ध्येय रखते हैं और अपनी बुद्धिके अनुसार उसी ध्येयको परम श्रेष्ठ, सर्वोत्तम मानते हैं। ध्येयमें सर्वश्रेष्ठ बुद्धि न होगी तो उस ओर बढ़ना कठिन ही नहीं, असम्भव है। अतः संसारमें सबसे बढ़कर हमारा लक्ष्य हो।

भगवान् और महापुरुष बिना कारण परमदयालु हैं

भगवत्कृपाके महत्त्वको वाणीद्वारा पूर्णरूपसे वर्णन करना असम्भव है; क्योंकि भगवान्‌की दयाका महत्त्व अपार है और वाणीद्वारा जो कुछ कहा जाता है, वह स्वल्प ही है। भगवान्‌की कृपाके महत्त्वको जो कोई महापुरुष यत्किंचित् भी समझते हैं, वे भी जितना समझते हैं, उतना वाणीद्वारा बता नहीं सकते। भगवान्‌की कृपा सब जीवोंपर सदा-सर्वदा अपार है। लोगोंका इस विषयमें जितना अनुमान है, उससे भी भगवान्‌की कृपा बहुत अधिक है।

वास्तवमें भगवान्‌की दया सभी प्राणियोंपर बिना किसी कारणके समभावसे सदा ही स्वाभाविक है। अतः उसे निर्हेतुक ही कहना चाहिये, परंतु जो मनुष्य भगवान्‌की दयापर जितना अधिक विश्वास करता है, अपनेपर जितनी अधिक दया मानता है, वह उनकी दयाका तत्त्व उतना ही समझता है तथा उसे उतना ही अधिक प्रत्यक्ष लाभ मिलता है। इसलिये उसको सहैतुक भी कहा जा सकता है; किंतु भगवान्‌का इसमें अपना कोई हेतु नहीं है।

भगवान् तो सर्वथा पूर्णकाम, सर्वशक्तिमान्, महान् ईश्वर हैं। उनमें किसी प्रकारकी कामना या इच्छाकी कल्पना ही कैसे हो सकती है, जिससे उनकी दयामें किसी प्रकारके स्वार्थरूप हेतुको स्थान मिल सके। वे तो स्वभावसे ही—बिना कारण परम दयालु हैं, सबके सुहृद् हैं; उनकी सब क्रियाएँ सम्पूर्ण जीवोंके हितके लिये ही होती हैं, वास्तवमें अकर्ता होते हुए भी वे दयावश जीवोंके हितकी चेष्टा करते हैं। अजन्मा होते हुए भी साधु पुरुषोंका उद्धार, धर्मका प्रचार और दुष्टों-का संहार करनेके लिये एवं संसारमें अपनी पुनीत लीलाका विस्तार करके लोगोंमें प्रेम और श्रद्धाका संचार करनेके लिये समय-समयपर अवतार धारण करते हैं; निर्गुण, निराकार और निर्विकार होते हुए भी अपने भक्तोंके प्रेमके अधीन होकर सगुण और साकाररूपसे दर्शन देनेके लिये बाध्य होते हैं; सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वथा स्वतन्त्र होते हुए भी प्रेममें पिघलकर भक्तके अधीन हो जाते हैं—इन सबमें उनकी निर्हेतुकी परम दया ही कारण है।

जो भगवान्‌को प्राप्त हुए भगवद्भक्त हैं, जो भगवान्‌की दयाके महत्त्वको समझ गये हैं, जिनमें उस दयामय

परमेश्वरकी दयाका अंश व्याप्त हो गया है, उन महापुरुषोंका भी अन्य जीवोंसे किसी प्रकारका स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता। उनकी समस्त क्रियाएँ केवल लोकहितके लिये किसी प्रकारके स्वार्थरूप हेतुके बिना ही होती हैं; तब फिर भगवान्की दया हेतुरहित हो, इसमें तो कहना ही क्या है! महापुरुषोंका किसी भी जीवके साथ किसी भी प्रकारका स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता। इस विषयमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
(गीता ३। १८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता (तो भी उसके द्वारा केवल लोकहितार्थ कर्म किये जाते हैं)।'

इसी तरह अपने विषयमें भी भगवान् कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
(गीता ३। २२)

'अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है; तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ।'

तुलसीदासजीने भी कहा है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥
(मानस ७। ४६। २)

इस वर्णनसे यह पाया जाता है कि महापुरुषोंका और भगवान्का कोई कर्तव्य और प्रयोजन न रहते हुए भी लोगोंको उन्मार्गसे बचानेके लिये एवं नीति, धर्म और ईश्वरभक्तिरूप सन्मार्गमें लगानेके लिये केवल लोकहितार्थ उनके द्वारा सब क्रियाएँ हुआ करती हैं; इसमें उनकी अपार दया ही कारण है।

प्रतिदिन गीताका पाठ अवश्य करना चाहिये

संसारमें गीताके समान अध्यात्मविषयक ग्रन्थ और कोई नहीं है। गीतापर जितनी टीकाएँ, भाष्य और अनुवाद नाना प्रकारकी भाषाओं और लिपियोंमें मिलते हैं, उतने किसी धार्मिक ग्रन्थपर नहीं मिलते। गीताप्रेस, गोरखपुरमें ही संस्कृत, हिंदी, गुजराती, बँगला, मराठी, उर्दू, अरबी, फारसी, गुरुमुखी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि अनेक भाषाओं और लिपियोंमें मूल तथा भाषा-टीका मिलाकर ९०० से अधिक गीताओंका संग्रह है।

गीताकी महिमा जो पद्मपुराणमें मिलती है, उसे देखनेपर ज्ञात होता है कि गीताके सदृश महिमा दूसरे किसी ग्रन्थकी नहीं। गीताकी महिमा महाभारतमें स्वयं वेदव्यासजीने भी कही है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥
(भीष्मपर्व ४३। १)

'गीताका अच्छी प्रकारसे गान, श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और उसको धारण करना चाहिये; अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्के साक्षात् मुख-कमलसे निकली हुई है।'

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥
(भीष्मपर्व ४३। २)

'जैसे मनुजी सर्ववेदमय हैं, गङ्गा सकल तीर्थमयी हैं और श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, इसी प्रकार गीता सर्वशास्त्रमयी है।'

गीता सारे उपनिषदोंका सार है। शास्त्रमें बतलाया गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गायें हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उनको दुहनेवाले (ग्वाल) हैं, कुन्तीपुत्र अर्जुन बछड़ा हैं और गीताप्रेमी सात्त्विक बुद्धियुक्त भगवत्-जन उनसे निकले हुए महान् गीतामृतरूपी दूधका पान करनेवाले हैं।'

सम्पूर्ण शास्त्रमें गीताको सर्वोपरि माना गया है। कहा है—

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

'श्रीदेवकीनन्दन श्रीकृष्णका कहा हुआ गीताग्रन्थ ही एक सर्वोपरि शास्त्र है, श्रीकृष्ण ही एकमात्र सर्वोपरि देव हैं; उनके जो नाम हैं, वे ही सर्वोपरि मन्त्र हैं और उन परमदेवकी सेवा ही एकमात्र सर्वोपरि कर्म है।'

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। गङ्गामें स्नान करनेका तो अधिक-से-अधिक फल स्नान करनेवालेकी मुक्ति बताया गया है; अतः गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं ही मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको मुक्त नहीं कर सकता; किंतु गीतारूपी गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं मुक्त होता है और दूसरोंको भी मुक्त कर सकता है।

गीताकी भाषा भी मधुर, सरल, अर्थ और भावयुक्त है। अतएव सभी माता-बहनों और भाइयोंको प्रतिदिन कम-से-कम एक अध्यायका पाठ तो अर्थ और भाव समझते हुए अवश्य ही करना चाहिये। (संकलित)

समर्पण-योग

(रचयिता—श्रीआरसीप्रसाद सिंहजी)

हृदय-सम्राटको दे दो हृदयका स्वर्ण-सिंहासन।
तुम्हारे पास जो कुछ हो, वही कर दो उसे अर्पण॥
यही पुरुषार्थ अन्तिम है
यही कर्तव्य पावन है।
यही है लक्ष्य जीवनका,
यही जीवन चिरंतन है।
न माँगो मुक्ति भी, माँगो प्रणय-युवराजका शासन।
हृदय-सम्राटको दे दो हृदयका स्वर्ण-सिंहासन॥
यही आनन्द वह, जिसके
लिये संसार पागल है।
मगर मरुभूमिमें मिलता
नहीं मृगको कहीं जल है।
विषय-विषपान कर होता नहीं कल्याण का चिन्तन।
हृदय-सम्राट को दे दो हृदयका स्वर्ण-सिंहासन॥
अकिंचन-दीनको ही हरि-
कृपाका ज्ञान होता है।
जहाँ है प्रेम, क्या कोई
वहाँ अभिमान होता है?
यही पथ है तुम्हारा, जो मिला हरि-नामका साधन।
हृदय-सम्राटको दे दो हृदयका स्वर्ण-सिंहासन॥

एक महात्माका प्रसाद

(शिक्षक तथा शिक्षार्थियोंका कर्त्तव्य*)

शिक्षासे व्यक्तित्वमें सुन्दरता आती है। शिक्षा एक प्रकारकी सामर्थ्य है। सामर्थ्यके सदुपयोगसे ही सुन्दर समाजका निर्माण होता है—यह वैधानिक तथ्य है। इस पवित्र उद्देश्यकी पूर्तिके लिये शिक्षक तथा शिक्षार्थियोंको सदैव सजगतापूर्वक अथक प्रयत्नशील रहना है। सजगतामें ही चेतना है। उसीसे मानव अपने कर्त्तव्य और दूसरोंके अधिकारका अनुभव कर सकता है, जो परिवार, समाज तथा विश्व-शान्ति एवं भौतिक उन्नतिमें हेतु है। सभीके विकासमें अपना विकास निहित है—यह प्राकृतिक विधान है। प्राकृतिक विधानका अनुसरण करनेपर ही व्यक्ति और समाजमें गहरी एकता होती है। एकतामें ही वास्तविक सामर्थ्यकी अभिव्यक्ति होती है, जिससे मानव प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगमें समर्थ होता है और उसीसे वर्तमान सरस एवं भविष्य उज्ज्वल होता है तथा उसीकी माँग सदैव मानवमात्रको रहती है।

माँगकी पूर्तिमें ही मानव-समाजको सच्चा संतोष होता है। इसके होनेसे ही प्रत्येक प्रवृत्ति साधनरूप हो जाती है। साधनरूप प्रवृत्तिमें किसी प्रकारकी अस्वाभाविकता नहीं रहती, अपितु प्रत्येक प्रवृत्ति सहज तथा स्वाभाविक होने लगती है। जीवन भाररहित हो जाता है, जो सभीको स्वभावसे अभीष्ट है। भारसे दबा हुआ मानव प्राप्त सामर्थ्यका सदुपयोग नहीं कर पाता। सामर्थ्यके दुरुपयोगसे ही व्यक्तिगत जीवनमें असमर्थता और पारिवारिक तथा सामाजिक जीवनमें संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। परिवार समाजकी एक इकाई है और समाज विश्वका ही एक अङ्ग है। सामर्थ्यके दुरुपयोगका सजग मानवके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

शिक्षारूपी सामर्थ्यके दुरुपयोगसे ही राष्ट्रमें, समाजके प्रत्येक वर्गमें अव्यवस्था आ जाती है, जिससे व्यक्ति और समाजके बीच दूरी उत्पन्न हो जाती है। व्यक्ति और समाजमें एकता न रहनेसे परस्पर अधिकार-लोलुपतासे कभी किसीका विकास नहीं हुआ, यह अनुभवसिद्ध सत्य है। इतना ही नहीं, अधिकार-लोलुपताने मानवको विद्यमान मानवतासे विमुख कर दिया है। मानवतामें पूर्णता, पूर्णतामें जीवन एवं जीवनमें रस है। इसकी माँग सभीको सदैव रहती है। इस माँगकी अपूर्ति ही मानवको पराधीनता, जडता एवं अभावमें आबद्ध करती है, जो कभी भी किसीको अभीष्ट नहीं है। इस दृष्टिसे अधिकार-लोलुपतासे रहित होकर कर्त्तव्यनिष्ठ होना अनिवार्य है।

कर्त्तव्य-परायणता जीवनका वह तत्त्व है, जिससे प्राप्त सामर्थ्यका सदुपयोग होने लगता है। सामर्थ्यका सदुपयोग ही सुन्दर नीति है। इससे ही सुन्दर समाजका निर्माण होता है। आज अधिकार-लोलुपतामें आबद्ध होकर शिक्षित समाज व्यक्तिगत जीवनमें अशान्ति, पारिवारिक जीवनमें अविश्वास एवं सामाजिक जीवनमें नित्य नये संघर्षोंको जन्म देता रहता है, जिससे परस्परमें एकता न रहकर भिन्नता ही पोषित होती रहती है। इसका मानवीय जीवनमें कोई स्थान नहीं है। अभिन्नतामें ही उदारता, समता एवं प्रियताकी अभिव्यक्ति होती है। उदारतासे जीवन जगत्के लिये, समतासे अपने लिये और प्रियतासे जगदाधारके लिये उपयोगी होता है। जिससे जीवन सभीके लिये उपयोगी हो जाय, वही विकसित मानव-जीवनका सुन्दर चित्र है।

जो जीवन कभी किसी भी महामानवको मिला है, वही जीवन मानवमात्रको मिल सकता है। इस वास्तविकतामें अविचल आस्था अनिवार्य है। व्यक्तिगत भिन्नताका तत्त्व सृष्टिमें प्रत्यक्ष ही है। दो व्यक्ति भी सर्वांशमें समान नहीं हैं। रुचि, योग्यता, सामर्थ्य आदिकी भिन्नतासे कोई इन्कार नहीं कर सकता। अतः व्यक्तिगत भिन्नताका तत्त्व सजग मानवको स्वीकार करना ही पड़ता है। अनेक प्रकारकी भिन्नताओंमें भी एकताका संचार करना अधिकारलोलुपतासे रहित कर्त्तव्य-परायणतासे ही साध्य है, अन्य किसी प्रकारसे नहीं। यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने सजगता-पूर्वक शिक्षाका सदुपयोग किया है।

शिक्षित व्यक्ति जब सुख-लोलुपतामें आबद्ध होकर शिक्षाका दुरुपयोग करता है, तभी समाजमें हर प्रकारकी क्षति होती है, जिसका मूर्तिमान् चित्र आज स्पष्ट ही है। जीवन-विज्ञान मानवको यह प्रेरणा देता है कि बलके दुरुपयोगका मानवके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

* शिक्षार्थियोंके समक्ष दिया गया आशीर्वादात्मक भाषण।

बलके दुरुपयोगसे ही आज संघर्षकी धूम मची है । क्या शिक्षित व्यक्तियोंके सहयोगके बिना कभी कोई कार्य हो सकता है ? कदापि नहीं ।

शिक्षाके महत्त्वको अपनाकर शिक्षाके सदुपयोगमें तत्पर हो जाना आप महानुभावोंके लिये अनिवार्य हो गया है । यदि इस सत्यको आपने नहीं अपनाया तो सम्भव है, मानवी सभ्यताका अन्त हो जाय । मेरा विश्वास है कि मानव-जातिकी रक्षाके लिये अनेक प्रकारकी कठिनाइयोंको सहन करते हुए आप शिक्षाका सदुपयोग करनेके लिये अथक प्रयत्नशील रहेंगे और विद्यमान मानवताको विकसित-कर मानव-जीवनके चरम लक्ष्यको प्राप्त करेंगे ।

जो हार स्वीकार नहीं करता, वह अवश्य विजयी होता है—यह मङ्गलमय विधान है । अब विचार यह करना है कि मानव हार मानकर क्यों बैठ जाता है । इस सम्बन्धमें मेरा स्पष्ट मत है कि बलका दुरुपयोग, विवेकका अनादर एवं आस्थामें विकल्प करनेसे ही मानव किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाता है, जिसका मानव-जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है ।

कोई सबल हमारे प्रति बलका दुरुपयोग करे; यह माँग कभी किसीको किसीसे नहीं होती, अपितु सभी बलके सदुपयोगकी ही आशा करते हैं । जिसकी माँग नहीं है, वह जीवनमें क्यों है ? इस सम्बन्धमें विचार करनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि जब मानव उदारताको नहीं अपनाता, तभी बलका दुरुपयोग करता है, यद्यपि उदारता जीवनका प्रधान अङ्ग है, इसके बिना कभी कोई किसीके लिये उपयोगी नहीं हो सकता । अनुपयोगी जीवन किसीको अभीष्ट नहीं है, अपितु उपयोगी जीवनकी माँग ही सदैव सभीको रहती है । जबतक मानव किसी-न-किसी नाते सभीको अपना नहीं मान लेता, तबतक विद्यमान उदारताकी अभिव्यक्ति नहीं होती और उसके बिना प्राप्त बलका सदुपयोग सहज तथा स्वाभाविक नहीं होता । उदारता कोई अभ्यास नहीं है, जीवनका स्वाभाविक तथ्य है । इस स्वाभाविकतासे विमुख हो जाना भारी भूल ही है, और कुछ नहीं, जिसका अन्त करना अनिवार्य है । भूलका ज्ञान ही भूल मिटानेमें समर्थ है, यह सर्वमान्य सत्य है । जिस ज्ञानसे भूलका ज्ञान होता है, वह ज्ञान मानवमें विद्यमान है ! परंतु इस वास्तविकताका बोध तभी होता है, जब मानव दूसरोंके अधिकारका अपहरण न करे, अपितु स्वयं अधिकार-लोलुपतासे रहित हो जाय । यह जीवन-विज्ञान है ।

विज्ञानको अस्वीकार नहीं किया जा सकता, कारण कि वह प्राकृतिक तथ्य है । इतना ही नहीं, प्राकृतिक विधान और जीवन-विज्ञानमें विभाजन नहीं किया जा सकता । विधान और जीवनमें एकता ही विकासकी भूमि है, यह रहस्य स्पष्ट हो जानेपर जीवन विधान और विधान जीवन हो जाता है । महानुभाव ! जीवन-विज्ञानको अपनाकर सर्वांशमें बुराई-रहित हो जाना अनिवार्य है—यहाँतक कि बुराईके बदलेमें भी बुराई करना अवैधानिक अर्थात् अमानवीय है । मानव सृष्टिकी सर्वोत्कृष्ट रचना है । एकमात्र वही विधान और जीवनमें एकता रख सकता है और उसके द्वारा सभीके अधिकार स्वतः सुरक्षित होने लगते हैं । दूसरोंके अधिकार न देना और अपने अधिकार माँगना, यही वास्तवमें अमानवता है । अधिकार माँगनेका रोग मानवताके विनाशका मूल कारण है । अधिकार देनेमें ही अपना अधिकार है, इस वैज्ञानिक सत्यको अपनानेसे ही उदारताका उदय होता है और फिर व्यक्ति और समाजमें वास्तविक एकता हो जाती है । व्यक्ति समाजके अधिकारोंका पुञ्ज है और समाज व्यक्तिका कर्त्तव्य-क्षेत्र है । व्यक्ति और समाजमें विभाजन भूल है । व्यक्ति ज्यों-ज्यों समाजके लिये उपयोगी होता जाता है, त्यों-त्यों सुन्दर समाजका निर्माण स्वतः होता जाता है । अनुपयोगी जीवनसे ही समाजमें विप्लव तथा संघर्षका जन्म होता है । हम सभीके लिये उपयोगी हो जायँ, इस माँगका अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है ।

जीवनका दर्शन हमें यह प्रकाश देता है कि पराधीनताका मानव-जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है; कारण कि अपनेको जो चाहिये, वह अपनेमें है । इस वास्तविकताका बोध तभी होता है, जब मानव निज ज्ञानके प्रकाशमें यह अनुभव करे कि सृष्टिमें व्यक्तिगत कुछ भी नहीं है । यह जीवनका सत्य है । सत्यको स्वीकार करना मानवका परम पुरुषार्थ है । इसके बिना कभी कोई स्वाधीन नहीं हो सकता । स्वाधीनताके बिना जीवनमें उदारता तथा प्रेमकी अभिव्यक्ति नहीं होती, जिसकी माँग चराचर जगत्‌को सदैव रहती है तथा जिसकी पूर्ति एकमात्र मानवके ही द्वारा हो सकती है । कैसी विचित्र बात है कि मानवकी माँग सभीको है और वह स्वयं अपनेमें ही अपनेको संतुष्ट कर

सकता है । यह महानता मानवको उसके रचयिताने अपनी अहैतुकी कृपासे प्रेरित होकर प्रदान की है । मिली हुई महानताका सदुपयोग न करना, अपितु दुरुपयोग कर बैठना अपने द्वारा ही अपना विनाश कर बैठना है। इसका सजग मानवके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है। सजगता निज ज्ञानके आदरमें ही निहित है । इस दृष्टिसे मानवका अपना दर्शन अपने कल्याण और जन-समाजके लिये उपयोगी है । विज्ञान और दर्शनको अपना लेनेपर जीवन जगत्के लिये तथा अपने लिये उपयोगी हो जाता है। इस वास्तविकताकी उपलब्धि यह स्पष्ट कर देती है कि विश्व मानवकी ही अपनी एक अवस्था है और यही सच्चा साम्य है । एकताके बिना साम्य सम्भव नहीं है। एकता अपनेद्वारा ही प्राप्त की जाती है । उसके लिये परिस्थितिका सदुपयोग भले ही अपेक्षित हो, किंतु किसी परिस्थितिमें एकता नहीं है । एकता उदारता और स्वाधीनतासे साध्य है, जो दर्शन तथा विज्ञानसे सिद्ध है। परिवर्तनशील वस्तुओंकी दासतामें आबद्ध होकर साम्यके गीत गाना अपनेद्वारा ही अपनेको धोखा देना है । किसी भी सजग मानवको अपनेको अपनेद्वारा धोखा नहीं देना चाहिये। सभीमें अपनापन तभी सुरक्षित रहता है, जब मानव स्वयं उदार, स्वाधीन तथा प्रेमसे भरपूर हो । किसी भी पराधीन प्राणीके द्वारा साम्यकी स्थापना नहीं हो सकती और अनुदारके द्वारा विश्व-शान्तिका प्रश्न हल हो ही नहीं सकता । मानव जीवन-दर्शन तथा जीवन-विज्ञानसे ही स्वाधीन और उदार हो सकता है, किंतु प्रेमसे भरपूर होनेके लिये तो आस्था ही मूल मन्त्र है ।

जिस प्रकार विज्ञान और दर्शन जीवनके तथ्य हैं, उसी प्रकार आस्था भी जीवनका अनिवार्य पहलू है। आस्था उसे कहते हैं, जिसके द्वारा सभी मान्यताएँ सिद्ध होती हैं। यदि आस्थाके तत्त्वको जीवनमें स्वीकार न किया तो केवल दर्शन और विज्ञानसे जीवनकी पूर्णता सिद्ध नहीं होती । कारण कि विज्ञानमें उदारताका रस और दर्शनमें स्वाधीनताका रस विद्यमान है और ये दोनों तत्त्व अपने लिये रसरूप हैं, परंतु रसका पान और स्वाधीनताके अभिमानसे अपनेको संतुष्ट करने अथवा उसमें रमण करनेसे अहंभावरूपी अणुका अत्यन्त अभाव नहीं होता। यद्यपि अहंरूपी अणु सृष्टिकी अपेक्षा अत्यन्त विभु है, तथापि जिसने मानवका निर्माण किया, उस अनन्तकी अपेक्षा तो सीमित ही है । आस्थाके तत्त्वसे मानवका अनन्तसे आत्मीय सम्बन्ध सिद्ध होता है। आत्मीय सम्बन्धमें ही अगाध, अनन्त प्रियता निहित है। प्रियता जिसमें उदय होती है, उसे अपनेसे अभिन्न कर लेती है और जिसके प्रति होती है, उसके लिये रस-रूप होती है। अर्थात् प्रेम और प्रेमास्पदका नित्य विहार होता ही रहता है। फिर किसी प्रकारकी अपूर्णता, अभाव शेष नहीं रह जाता। बस, यही मानव-जीवनकी पूर्णता है ।

आप मानव हैं । मानव होनेके नाते आपको सभीके लिये उपयोगी होना है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब आप प्राप्त विज्ञान, दर्शन और आस्थाका सदुपयोग करनेके लिये सर्वदा तत्पर रहें। सफलता अवश्यम्भावी है । मानव-जीवनमें असफलता तभीतक रहती है, जबतक मानव अपने जीवनके सत्यको नहीं अपनाता। आप सभीको भलीभाँति विदित है कि मानव-शिशुके जीवनका आरम्भ अधिकार लेनेसे ही होता है अर्थात् परिवार, समाज और प्राकृतिक पदार्थ आदिके द्वारा ही उसे पोषण और शिक्षण मिलता है । उसके पश्चात् वह स्वयं कुछ करनेके योग्य अपनेको पाता है। उस कालमें भी यदि अधिकार-लोलुपता रही तो मानवका जीवन अबोध बालककी भाँति निरीह तथा पराधीन ही रह जायगा। अतः पोषित तथा शिक्षित होनेपर अधिकारको त्याग, कर्त्तव्यको अपनाकर हम सभीके लिये उपयोगी हो जायँ, बस यही जीवनकी सार्थकता है ।

आशा है, मेरे प्यारे विद्यार्थी मानव-जीवनके महत्त्वको अपनाकर मानव-समाजमें सोयी हुई मानवताको जगानेके लिये आनेवाली अनेक कठिनाइयोंको हर्षपूर्वक सहन करते हुए जीवनकी सार्थकताके लिये सर्वदा उद्यत रहेंगे।

श्रीश्यामसुन्दरकी प्रेमाधीनता

सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि, अनंत, अखंड, अछेद, अभेद सुवेद बतावैं ॥
नारद-से सुक ब्यास रटैं, पचि हारे, तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं ॥

—रसखान

ऊखल-बन्धन-लीला

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्क पृ० १२२६ से आगे]

श्रीवल्लभाचार्यजी कहते हैं कि माताका शरीर स्वेदसे भीग गया। उसके केशोंमें लगी मालाएँ बिखर गयीं। वह थक गयी। पुत्रका कर्त्तव्य है कि माताका परितोष करे। श्रुति है—'मातृदेवो भव।' स्मृति है—'पितुर्दशगुणामाता' अतः उसको थकाना उचित नहीं। श्रीकृष्णने सोचा कि 'इसके कोई दूसरा पुत्र भी नहीं है, जो इसका दुःख दूर करे। मैंने ही इसे अपनी माता बनाया है। मैं गोकुलका दुःख दूर करनेके लिये प्रकट हुआ और माताका दुःख दूर न करूँ तो क्या ठीक होगा? सौभाग्य-दानके लिये आया और इसके अलंकारोंका तिरस्कार कर दूँ?' जो भक्तोंके दूरस्थ दुःखको भी नहीं देख सकते, वे अपने सम्मुख माताके दुःखको कैसे देख सकते हैं? अतएव कृपानुग्रहसे श्रीकृष्णने बन्धन स्वीकार कर लिया। कृपा सब धर्म और धर्मियोंसे बलवती है। भगवान् अपनी कृपासे ही आप बँधते हैं।

श्रीजीवगोस्वामीने यह प्रश्न उठाया है कि "पहले तो श्रीकृष्णको पूर्ण और परमेश्वर सिद्ध किया, फिर उनमें भूख, प्यास, अतृप्ति, चोरी, भय, पलायन, पकड़ा जाना, रोदन एवं बन्धनका वर्णन किया गया। इसका कोई-न-कोई रहस्य अवश्य होना चाहिये और रसिकोंके लिये आस्वादका हेतु भी; अतः वह क्या है?' इसका समाधान करते हैं—'यह सर्वथा सत्य है कि श्रीकृष्ण परिपूर्णतम परमेश्वर हैं, तथापि उनमें भक्तोंके प्रति अनुग्रह भी अवश्य स्वीकार करना चाहिये। यदि अनुग्रह न होगा तो भगवान्के गुण किसीके प्रति सुखकर नहीं होंगे। कठोर-हृदय पुरुषका कुछ भी रुचिकर नहीं होता। फिर वे गुण भी नहीं रहेंगे। जन-सुखकारी धर्म निर्दयतारूप दोषमें परिणत हो जायँगे। अपहतपाप्मा परमेश्वरके साथ उनकी कोई संगति नहीं लगेगी। अतएव सभी गुणोंको गुण बनानेवाला दोषान्तर-विरोधी भक्तिके अनुरूप कृपा-गुण ही भगवान्में स्वीकार करना चाहिये। भक्ति भगवान्को वशमें करती है—यह ठीक है तो भगवान् भी भक्तिके वशमें होते हैं। इससे उनके ऐश्वर्यमें कोई त्रुटि नहीं आती; क्योंकि वे बद्ध दशामें भी नलकूबर-मणिग्रीवका उद्धार ही करते हैं। इससे सर्वाकर्षण और ऐश्वर्यकी वृद्धि होती है। वे स्वयं ही बार-बार कहते हैं—'मैं भक्त-पराधीन हूँ, भक्त निष्कपट हैं, मैं भी निष्कपट हूँ।' अतः भक्तोंके आनन्दके लिये उन-उन भावोंका प्रकट होना तात्त्विक ही है। यही देखकर कुन्ती देवी मुग्ध हो गयी थीं। यह भक्तोंका मन हरण करनेकी लीला है। जो अपने भक्तसे इतनी ममता कर सकता है कि उसके हाथों बँध जाय, उसकी भक्ति कोई क्यों नहीं करेगा?"

श्रीवीरराघवाचार्य कहते हैं कि 'इस भक्तकृत बन्धनसे भगवान्की स्वतन्त्रतामें कोई बाधा नहीं पड़ती। ब्रह्मा, शंकर आदितक श्रीकृष्णके वशमें हैं। सम्पूर्ण जगत् उनके वशमें है, उन्होंने स्वयं ही यह प्रकट किया कि 'मैं भक्तोंके वशमें हूँ।' सर्वत्र स्वतन्त्र, भक्तोंके परतन्त्र।" श्रीवत्साङ्क मिश्रने कहा है—

> 'अनन्याधीनत्वं तव किल जगुर्वैदिकगिरः
> पराधीनं त्वां तु प्रणतपरतन्त्रं मनुमहे।'

वेदवाणी आपको अनन्याधीन—किसीके अधीन नहीं, कहती है; परंतु हम तो प्रणत-परतन्त्र आपको पराधीन ही मानते हैं।' आप अनन्य भक्तोंके अधीन हैं—वेदवाणीका ऐसा अभिप्राय है।

'सारार्थदर्शिनी'कार विश्वनाथ चक्रवर्ती यह भाव व्यक्त करते हैं—"परमेश्वरका प्रेम-परवश होकर बँध जाना दूषण नहीं, भूषण है। आत्मारामकी भूख-प्यास, पूर्णकामकी अतृप्ति-तृष्णा, शुद्ध सत्त्वका कोप, स्वाराज्यलक्ष्मीके अधिपतिका चौर्य-कर्म, महाकालके कालका भय-पलायन, मनके अग्रगामीका पकड़ा जाना, आनन्दमयका दुःख-रोदन और सर्वव्यापीका बन्धन—यह सब स्वाभाविक भक्त-पराधीनताका प्रदर्शन है। अज्ञानियोंके प्रति इसका उपयोग न होनेपर भी ब्रह्मा, शंकर, सनत्कुमारादि विज्ञानियोंको भी चमत्कृत करके इसका प्रदर्शन किया गया। इसको केवल अनुकरणमात्र समझना भूल है; क्योंकि आगे 'तद्विदाम्' कहा गया है।

'सिद्धान्तप्रदीप' कार श्रीशुकदेवका कहना है कि 'यह ठीक है, भगवान्में आन्तर-बाह्य, पूर्वापर आदिका व्यवहार न होनेपर भी उन व्यवहारोंका औचित्य भी है। वे अणु-से-अणु और महान्-से-महान् हैं। वे स्वयं अपने संकल्पसे बद्ध भी हो सकते हैं।'

अब श्रीहरिसूरिकृत 'भक्ति-रसायन'के कुछ भावोंका सप्रेम समास्वादन कीजिये—यशोदाने अपने गुणों—रस्सी एवं सद्गुणोंसे जितना-जितना उद्योग किया विभुके उदरकी पूर्तिके लिये; श्रीकृष्णने भी उतने-ही-उतने अपने गुण—असङ्गता, नित्यमुक्ति आदिको प्रकट किया। अतएव कन्हैयाकी मैयाके साथ यह परमानन्दजनक क्रीडा सम्पन्न हो गयी।

रज आदि प्राकृत गुण जिनका स्पर्श भी नहीं कर सकते, उन्हें यह छोटा-सा गुण (रस्सी) कैसे बाँध सकेगा ? अतएव गुणोंका पूरा न पड़ना उचित ही है।

इन्द्रियोंका बन्धन होता है, उनके अधिष्ठाताओंका नहीं। श्रीकृष्ण गोपति—इन्द्रियाधिपति हैं। गोबन्धक रज्जु उन्हें नहीं बाँध सकती।

यह प्रसिद्ध है कि अध्यस्त ही बद्ध होता है, अधिष्ठान नहीं। इस श्रुत्यर्थको स्पष्ट करनेके लिये विश्वावभासक परमात्मामें बन्धन न लग सका।[1]

जिसपर प्रभुका कृपा-प्रसाद उतरता है, जिसपर उनकी अनुग्रह-दृष्टि पड़ जाती है, उसे भी बन्धनका अनुभव नहीं होता। श्रीकृष्णने जब रस्सीकी ओर देखा तो वह भी मुक्त हो गयी, उसमें बन्धनकी योग्यता नहीं रही।[2]

रज्जुरूप गुणकी न्यूनता निरन्तर यह सूचना दे रही है कि संसारके सारे गुण भी उसकी पूर्तिमें समर्थ नहीं हैं।

एक अंधा जिसको नहीं देख सकता, उसको सौ अंधे भी मिलकर नहीं देख सकते। सभी दाम (रज्जु) समान हैं। व्यर्थ परिश्रमसे कोई लाभ नहीं। इसी अभिप्रायको रज्जुकी न्यूनता प्रकट करती है।

बन्धन-रज्जु दो ही अंगुल कम क्यों हुई ? इसपर श्रीहरिसूरिकी उत्प्रेक्षाएँ सुनिये—

जब मैं शुद्धान्तःकरण योगियोंको प्राप्त होता हूँ, तब केवल एकमात्र सत्त्वगुणसे ही मुझमें सम्बन्धकी स्फूर्ति होती है। रजोगुण और तमोगुणका सम्बन्ध नहीं होता। रस्सीमें दो अंगुलकी न्यूनताका प्रकट होना इसी सत्यको प्रकट करता है।[3]

जहाँ नाम-रूप होते हैं, वहीं बन्धनका औचित्य है। मुझ ब्रह्ममें ये दोनों नहीं हैं। दो अंगुलकी न्यूनतासे यही बोधन किया गया है।[4]

रज्जुने दो अंगुल न्यून होकर यह सूचना दी कि 'इन दोनों वृक्षों (नलकूबर-मणिग्रीव) का उद्धार करके इन्हें मुक्त कीजिये।'

भगवत्कृपासे द्वैतानुरागी गोकुल भी मुक्त हो जाता है और प्रेमसे भगवान् भी बद्ध हो जाते हैं—इन दो रहस्योंको दो अंगुलकी न्यूनता सूचित करती है।

श्रीहरिसूरि यह विकल्प उठाते हैं कि "यशोदा माताने घरकी छोटी-बड़ी सभी रस्सियोंको अलग-अलग कृष्णके कटिभागमें लगाया अथवा सबको एक साथ ? इनमेंसे यदि पहली बात मानी जाय तो यह भाव ध्वनित होता है कि 'समदर्शी दयानिधान भगवान्में छोटे-बड़ेका कोई भेद नहीं है।' दूसरी बात यह कि रज्जुने यह सूचना दी—'प्रभुके समान अनन्तता और अनादिता हम क्षुद्रोंमें कहाँसे आ सकती है। अतः हम इन्हें बाँध नहीं सकते'।"

यदि ऐसी बात मानी जाय कि सभी गुणों (रस्सियों) का प्रयोग एक साथ ही किया गया तो वे सब अनन्त गुण

१. अध्यस्तस्याथवि बन्धो जगत्यां
नाधिष्ठानस्यांशतोऽपीति लोके।
श्रुत्यर्थस्य ख्यातये नोदरेऽभूद्
बन्धस्तस्मिन् विश्वविश्वप्रकाशे॥

२. यस्मिन् कृपानुग्रहवीक्षणं विभो-
र्भवत्यसौ वेत्ति न बन्धसम्भवम्।
युक्तं तदा तद्धरिणा तथेक्षितं
मुक्तं स्वयं दाम न बन्धभागभूद्॥

३. यदाहं प्राप्यः स्यामिह सुमनसां युक्तमनसां
तदानीं सम्बन्धः स्फुरति मयि सत्त्वैकगुणतः।
द्वयोर्नेति प्रायः प्रकटितमिहैशेन स तदा
यतो द्वाभ्यामूनात्तदुचितगुणाद् बन्धयुगभूद्॥

४. यत्र स्यातां नामरूपे सरूपे बन्धस्तस्यैवोचितो नोचितोऽत्र।
द्वाभ्यामूने ब्रह्मणीति व्यबोधि दाम्ना तेन द्व्यङ्गुलोनेन मन्ये॥

परमात्मामें लीन हो गये । समुद्रमें सभी नदियाँ लीन हो जाती हैं—न नाम रहता है न रूप । समुद्रमें एक मेरी श्यामता है और दूसरी यमुनाकी । दो अंगुलकी न्यूनताके द्वारा प्रभुने यह भाव प्रकट किया ।

आश्चर्य तो यह है कि भगवान्‌ने वामनकी भाँति अपने रूपको छोटा नहीं किया । त्रिविक्रमके समान बढ़ाया भी नहीं । रस्सी छोटी नहीं की । उनके पृथक् या युगपत् प्रयोगमें कोई बाधा नहीं डाली । फिर भी किसी रूपमें श्रीकृष्णको गुण-स्पर्श नहीं हुआ ।

माताकी थकान और भूषण-भ्रंश देखकर कृष्णके हृदयमें कृपाका उद्रेक हुआ । वे सोचने लगे—'माताके हृदयसे द्वैत-भावना दूर नहीं होती तो फिर इसके सम्मुख अपनी असङ्गता प्रकट करना व्यर्थ है । इस भावसे उन्होंने बन्धनको स्वीकार कर लिया ।'[1]

'भक्तके छोटे-से गुणको भी भगवान् पूर्ण कर देते हैं, यही सोचकर उन्होंने छोटी-सी रस्सीको भी अपने बन्धनके योग्य पूर्ण बना दिया।'[2]

श्रीकृष्णने विचार किया—'मैं परमैश्वर्यशाली सहस्रगुण-सद्वृत्ति हूँ, तथापि भक्तोंके गुणके बिना मेरे गुण पूर्ण नहीं होते । अतएव उन्होंने यशोदाके गुणोंसे अपने उदरको भर लिया ।'[3]

'अपने भक्तके भगवत्प्रेम-पोषक परिश्रमको भी मैं नहीं सह सकता, अन्यकी तो बात ही क्या । मैं माताका खेद दूर करनेके लिये अश्लाघ्य बन्धनको भी सह लूँगा ।'[4]

'तत्त्वदृष्टिसे मुझमें कोई गुण संलग्न नहीं है; यदि गुण क्वचिद् भासमान भी हैं तो मध्यमें ही (जो आदि-अन्तमें नहीं होता, वह मध्यमें भी नहीं होता, मिथ्या ही भासता है)—श्रीकृष्णने मानो इसी श्रौत तात्पर्यको प्रकट करनेके लिये मध्यभागमें ही रस्सीका सम्बन्ध स्वीकार किया ।'[5]

गोकुलगत रज्जुओंसे बन्धन अङ्गीकार करनेका अभिप्राय है कि 'गोकुलवासी—ऐन्द्रियक व्यवहारमें संलग्न व्यक्ति भी प्रेमसे मुझे बाँध लेते हैं, वशमें कर लेते हैं ।'

महापुरुषोंका यह गौरवपूर्ण सद्गुण है कि भले ही कोई उसे न समझे, वह अभीष्ट कार्यकी पूर्ति कर देता है—यह दामोदर-लीलासे स्पष्ट है ।

यदि दैववश खल-गुणका अपने-आपसे सम्बन्ध हो जाय तो बन्धनकी प्राप्ति अवश्य होती है, भले ही वह महापुरुष ही क्यों न हो । ऊखल एवं रज्जुके सम्बन्धसे श्रीकृष्णको भी बँधना पड़ा ।

भगवान् श्रीकृष्णने माताके मनका निर्बन्ध (आग्रह) देखकर आत्मबन्धन स्वीकार कर लिया । भक्तके प्रेमके सामने भगवान्‌का अपना कार्य गौण हो जाता है ।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने मनमें विचार करने लगे—'देवर्षि नारदने नलकूबर-मणिग्रीवको शाप देकर वृक्ष बना दिया है और यह वचन दे दिया है कि शीघ्र ही व्रजराज-कुमार तुम्हें मुक्त कर देंगे । यह ठीक है कि मैं मुक्त हूँ स्वयं और मुक्त करता हूँ दूसरोंको; तथापि देवर्षिकी वाणीने तबतकके लिये मुझे बन्धनमें डाल दिया है, जबतक इन दोनोंपर कृपा करके मैं इन्हें मुक्त नहीं कर देता ।' यही विचार करके भगवान्‌ने देवर्षि नारदके वचनोंके बन्धनसे ही अपनेको बद्ध बना लिया । 'यही तो भक्त-वश्यता है !'[6]

करोड़ कल्पोंमें भी भगवत्स्वरूप बन्धनकी सम्भावनासे युक्त नहीं हो सकता; परंतु भक्तके संकल्प और अल्प

---

१. न द्वैतमस्या हृदयादपैति तत् किं वृथा स्वां प्रकटीकरोपि ।
निस्सङ्गतामित्यवधार्य ताद्दृग्दामस्थितेरास विभुः सबन्धः ॥

२. लघुमपि मद्भक्तगुणं हार्दस्थितितो नयामि पूर्णपदम् ।
ध्वनयन्नेवमनन्तो निन्ये पूर्णत्वमेतदल्पमपि ॥

३. षाड्गुण्यं भजतः सहस्रगुणसद्वृत्तेरनन्तात्मनो
नित्यानन्तगुणोल्लसत्सुचरितस्यापीह मेऽवस्थितिः ।
पूर्णत्वं गुणतः प्रयाति न विना मद्भावभाजां गुणा-
कम्बं जातुचिदित्यबोधयदसौ पूर्णोदरस्तद्गुणात् ॥

४. मत्प्रेमपोषकमपि श्रममात्मभक्त-
देहे सहे न भुवि जातु कुतस्तदन्यम् ।
किं चास्य खेदमपनेतुमहं सहेये-
त्यश्लाघ्यमप्यंकृत बन्धतः स्फुटं सः ॥

५. न मां तत्त्वदृष्ट्या गुणः कोऽपि लग्नः
क्वचिद्भासमानोऽपि चेन्मध्य एव ।
इति श्रौतमर्थं तदानीमधीशः
स दाम्ना स्वमध्येन मन्ये व्यतानीत् ॥

६—मच्छापादचिरेण वां यदुपतिर्मोक्तेति वाचाऽऽर्षया
तावद् बद्ध इवाहमस्मि सततं मुक्तोऽपि मोक्तापि च ।
यावद्वार्पदादिमौ न कृपया सम्मोचितावित्यसौ
तद्बन्धाद् किमबोधयद् भुवि विभुर्भक्तैकवाग्वश्यताम् ॥

प्रयत्नसे ही बँध गये। यह लीला वस्तुतः भक्तोंका हृदय अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये ही है और क्या कहूँ, भगवान् भक्तके वशमें।

श्रीधर स्वामीने अवतरणिकामें कहा है कि "भगवत्प्रसाद तो दूसरे भक्तोंको भी प्राप्त होता है; परंतु यशोदा माताको जो कुछ मिला, वह अत्यन्त विचित्र है। पुलकित शरीरसे शुकदेवजीने कहा कि 'ब्रह्मा पुत्र हैं, शंकर आत्मा हैं और लक्ष्मी पत्नी हैं; फिर भी उन्हें यह प्रसाद नहीं मिला। देहाभिमानी तपस्वी और अभिमानरहित ज्ञानियोंके लिये भी ये गोपिकानन्दन भगवान् सुलभ नहीं हैं। उन्हें मिलते तो हैं, परंतु भक्तोंके लिये जितने सुगम हैं, उतने उनके लिये नहीं।'"

श्रीजीव गोस्वामी विस्तारसे अपना अभिप्राय प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि "जब राजा परीक्षित्‌ने यशोदा-नन्दके उस पुण्याचरणके सम्बन्धमें प्रश्न किया, जिससे भगवान्‌की बाललीलाका आनन्द उन्हें मिला, तब शुकदेवजीने सामान्यरूपसे उन्हें महापुरुष ब्रह्माके कृपा-प्रसादका उल्लेख कर दिया। तब क्या धरा-द्रोण नामक वसु-दम्पतीको नैमित्तिक रूपसे ही यह शुभ अवसर प्राप्त हुआ? नहीं, अब तात्त्विक समाधान किया जाता है। भक्तोंके आदिगुरु हैं—ब्रह्मा! वैष्णवोंके आदर्श हैं—शंकर! भगवान् विष्णुकी नित्यप्रेयसी हैं—लक्ष्मी। वे तो उनके वक्षःस्थलपर निवास करती हैं। उन्हें भक्तिरूप-प्रसादकी प्राप्ति हुई। भगवान् मुक्ति देना—जेलखानेसे छोड़ देना तो पसंद करते हैं, परंतु भक्ति देना अर्थात् अपनी सेवामें लगा लेना सबके लिये सुलभ नहीं करते। परंतु जो प्रसाद—अनिर्वचनीय महाप्रसाद, जिसका ठीक-ठीक निरूपण 'प्रसाद' शब्दके द्वारा भी नहीं हो सकता—वह प्रेम-परिपाक यशोदाको प्राप्त हुआ। वह ब्रह्मा, शंकर और लक्ष्मीको भी न मिला, न मिला, न मिला। तीनों नकारका अन्वय 'लेभिरे' के साथ है। लक्ष्मीको ऐश्वर्य-ज्ञान है। अवश्य ही पतिरूपमें उनकी ममता भगवान्‌के प्रति विशेष है; परंतु यशोदाको ऐश्वर्य-ज्ञान न होनेके कारण केवल ममता-ही-ममता है। इसलिये यशोदाकी प्रीति ब्रह्माका प्रसाद नहीं है। वे नित्य-सिद्ध श्रीकृष्ण-माता हैं। ब्रह्मा तो स्वयं व्रजरजकी प्राप्तिके लिये लालायित रहते हैं।"

मूलमें स्पष्ट है कि भले ही तपस्या और ज्ञानसे महानारायण या परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति होती हो, परंतु गोपिकानन्दनकी प्राप्ति उनके लिये भी कठिन है। बिना किसी विशेषणके गोपिका-सुत कहनेका अभिप्राय यह है कि गोपिका ही सबके लिये उपादेय है। 'इह' शब्दके प्रयोगका यह भाव है कि गोपिका और गोपिका-सुतकी स्थिति नित्य है और सभी देशमें, सभी कालमें सच्चे प्रेमियोंके लिये वे सुलभ हैं। यशोदाके समान ही नन्दबाबा आदि परिकर भी नित्य ही हैं। धरा-द्रोणके रूपमें जो उनका निरूपण किया गया था, वह तो जबतक पूर्णतया लीला-रहस्यका बोध न हो जाय, तभीतकके लिये कहा गया था।

श्रीवीर राघवाचार्यका भाव है कि 'भगवत्प्रसाद भक्तिसे ही प्राप्त होता है। उसके लिये ब्रह्मा, शंकर या लक्ष्मी होनेकी आवश्यकता नहीं है, प्रेमपूर्वक अनुध्यानादि रूप भक्तिकी आवश्यकता है। जब वे गोपीके हृदयमें विद्यमान हैं, तब उसे भगवत्प्रसाद अवश्य ही प्राप्त होना चाहिये। उसीके लिये वे सुख-साध्य हैं।'

श्रीविजयध्वजतीर्थ कहते हैं कि 'निरन्तर निरतिशय भक्ति ही वह परमसुन्दरी नायिका है, जो भगवान्‌को भी अपनी ओर आकृष्ट करनेमें परम विदग्ध है।'

आचार्य वल्लभने कहा—'भगवान् श्रीकृष्णने यहाँ नयी बात क्या दिखलायी? ऐसा भाव तो पुरातन कालसे ही शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। इसकी मीमांसा कीजिये। जो प्रसाद यशोदाको मिला, वह इससे पहले किसीको नहीं मिला। यह महान् भक्तोंको ही प्राप्त होता है। भक्तोंमें भक्तिसे और स्वरूपसे तीन महान् हैं—ब्रह्मा पुत्र हैं, भक्त हैं, प्रवृत्तिमार्गके सब धर्मोंके प्रवर्तक हैं और सबके पिता हैं। महादेव पौत्र हैं, निवृत्ति-धर्मोंके प्रवर्तक हैं, प्रलयके हेतु एवं गुणावतार हैं। भगवान्‌के लिये ही सब कुछ छोड़कर तपस्या करते हैं। इन दोनोंसे भी अन्तरङ्गा हैं लक्ष्मी, वे पत्नी हैं, ब्रह्मानन्दस्वरूपा हैं, जगज्जननी हैं। वक्षःस्थलपर निवास प्राप्त होनेपर भी चरण-सेवामें संलग्न हैं। जब इन्हींको यह प्रसाद नहीं मिला, तो दूसरेको कहाँसे मिलेगा? इनमेंसे किसी एकको तो मिला ही नहीं, पूरे समुदायको भी नहीं मिला—यह सूचित करनेके लिये तीन बार नकार और बहुवचनमें 'लेभिरे' क्रियाका प्रयोग है। इनमें कोई त्रुटि भी नहीं है; क्योंकि तीनों भगवान्‌के अङ्गाश्रित हैं। वक्षःस्थलपर लक्ष्मी, नाभिमें ब्रह्मा और चरणोंमें शंकर। यशोदामें ये तीनों विशेषताएँ नहीं हैं। फिर भी उन्हें जो प्रसाद मिला, वह अनिर्वचनीय है। सबको मुक्ति देनेवाला अपनेको बन्धनमें डाल दे, यह क्या कम आश्चर्य है? यदि यशोदाका दुःख ही दूर करना था तो ज्ञान या कैवल्य देकर उसे दूर कर सकते थे। सचमुच भक्तकी भक्तिके बन्धनमें अपने आपको डाल देना सबसे बड़ा प्रसाद है।'

ब्रह्मा आदि महान् हैं और यशोदा तो श्रीकृष्णको ईश्वरके रूपमें पहचानती भी नहीं। ऐसी स्थितिमें यशोदाके प्रति प्रसादानुग्रह उनके प्रति किये गये प्रसादानुग्रहसे बड़ा कैसे हो सकता है? ध्यान दीजिये, यहाँ बन्धनमात्र विवक्षित

नहीं है, किंतु वश्यता—भक्तवश्यता विवक्षित है। वह किसी औरको नहीं मिलती। देहाभिमानी कर्मी और निरभिमान मुक्त ज्ञानी—दोनोंके लिये ये भगवान् सुख-लभ्य नहीं हैं। एकमें देहाभिमान दोष है तो दूसरेमें भगवान्‌के प्रति भी निरपेक्षता। क्या पार जाने मात्रसे ही महाराजकी प्राप्ति हो जाती है। विशेषता यह है कि भक्तोंको वे इसी लोकमें मिल जाते हैं; क्योंकि वे गोपीके पुत्र हो गये हैं। इसका अभिप्राय ही यह है कि लोग इसी लोकमें, इसी अवतारमें भक्ति करें।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—"भक्तोंके वशमें भगवान् हैं। भक्तोंमें भी श्रीव्रजेश्वरीके तो वे सर्वथा ही अधीन हैं, अपार परवशता धारण किये हुए हैं। मूलमें 'विमुक्ति' शब्दका अर्थ है—विशिष्ट मुक्ति अर्थात् प्रेम। उसे देनेवाले हैं—श्रीकृष्ण। कृष्णसे यशोदाको जो प्रसाद प्राप्त हुआ, वह ब्रह्मा-शिव-लक्ष्मीको भी नहीं मिला। नकार और क्रियापदकी तीन बार आवृत्ति कीजिये। अतिशय अप्राप्त है—यह अर्थ है। दूसरा अर्थ इस प्रकार है। ब्रह्मा, शंकर और लक्ष्मीको प्रसाद नहीं मिला—ऐसी बात नहीं। मिला तो सही; परंतु जो प्रसाद गोपीको मिला, वह उन्हें नहीं मिला। ब्रह्मा और शिव दास हैं। उनसे श्रेष्ठ लक्ष्मी हैं, वक्षःस्थलपर स्थित प्रेमवती पत्नी। जो प्रसाद उन्हें भी नहीं मिला, वह प्रसाद यशोदाको कैसे मिला? क्योंकि वे तो पहले वसुपत्नी धरा थीं। ब्रह्माको प्रसाद न मिले और वे जिसको वर दें, उसे मिल जाय? ऐसा कैसे हो सकता है? ब्रह्मा व्रजरजके प्रेमी हैं। इस उक्ति-युक्तिसे सिद्ध होता है कि नन्द-यशोदा नित्यसिद्ध हैं।"

भागवत-सिद्धान्त है कि "भगवत्प्रेम ही सब पुरुषार्थोंका शिरोमणि है। भक्त नित्यसिद्ध होंगे तो उनमें प्रेम भी नित्य प्रतिष्ठित होगा, अन्यथा अनित्य हो जायगा। भक्तोंमें गोकुलवासी श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे वात्सल्य, सख्य आदि भावसे प्रेम करते हैं। उनके रागानुगामी भक्तोंको ही कृष्ण सुलभ हैं। देहाभिमानी कर्मी, देहाध्यासरहित ज्ञानी और भगवान्‌के ही अवतार ब्रह्मा-शंकर तथा स्वरूप-शक्तिरूपा लक्ष्मी—ये भगवान्‌के आत्मभूत ही हैं; तथापि उनके लिये ये सुलभ नहीं हैं। ब्रह्मा, शंकर आदिको अपने-अपने लोकमें रहना पड़ता है, लक्ष्मीको भी। वे व्रजरसका आस्वादन कैसे कर सकते हैं? व्रजवासियोंकी अनुगति भी उनके लिये अप्राप्य है।"

'सिद्धान्तप्रदीप'कारका अभिमत है कि "भक्ति मुक्तिसे भी दुर्लभ है—यह इस प्रसङ्गमें कहा गया है। भक्ति-सम्बन्ध-वर्जित धर्म, योग, ज्ञान भगवत्प्राप्तिके साधन नहीं हैं। भक्ति ही भगवत्प्राप्तिका एकमात्र साधन है।

'भक्ति-रसायन'कार श्रीहरिसूरि कहते हैं कि 'भगवान् जिन्हें बाललीलाका सुख देते हैं, उन्हें ऐश्वर्यका सुख नहीं और जिन्हें ऐश्वर्यका सुख देते हैं, उन्हें बाललीलाका सुख नहीं। परंतु अपने श्रेष्ठ भक्तोंको वे दोनोंका ही सुख देते हैं। बन्धन न होनेसे ऐश्वर्य सुख है और होनेसे बाललीला-सुख। यशोदाको दोनों प्राप्त हुए।'[1]

ऊखल-बन्धन-लीला भृत्यवश्यता, प्रेम-परवशता, वात्सल्य-स्नेहका अनुपम उदाहरण है। भगवान्‌में कितना अनुग्रह है और मातामें कितना प्रेम है—इन दोनोंका स्पष्ट दर्शन होता है, इस लीलामें।

इसमें संदेह नहीं कि यह लीला भावुक भक्तोंको लीन—तन्मय कर लेती है, अपनेमें प्रेम-भक्तिके लिये उन्मुख करती है। यमलार्जुन-उद्धारकी लीलापर फिर कभी अनुसंधान करेंगे। इस प्रसङ्गमें यह उल्लेख करके कि भगवान्‌का बन्धन भी दूसरोंकी मुक्तिका साधन है—जैसे नलकूबर-मणिग्रीवका उद्धार। हरिसूरिके 'भक्तिरसायन'-स्थित एक श्लोकका रसास्वादन करते हुए हम इस निबन्धको समाप्त करते हैं—

अन्य एव मम बन्धको भव-
स्त्यन्य एव मम मोचकोऽपि च।
न स्वतोऽस्ति मम बन्धनं न वा
मुक्तिरित्यकृत स स्फुटार्थकम्॥[2]

भगवान् श्रीकृष्ण अपने मनमें विचार कर रहे हैं कि दूसरा ही कोई (जैसे माता) मुझे बन्धनमें डाल देता है, बद्ध समझ लेता है और दूसरा ही कोई (जैसे पिता नन्द) मुझे मुक्त कर देता है अर्थात् मुक्तके रूपमें साक्षात्कार कर लेता है। मेरे वास्तविक स्वरूपमें न तो बन्धन है और न मुक्ति।

---

१. येषां बालतया सुखोदयकरस्तेषां न षाड्गुण्यतो येषां तादृशरूपतश्च सुखदस्तेषां न बालत्वतः।
सच्चिद्रूपतया च बालकतया निस्सीमसौख्यप्रदस्तेषामेव सुभक्तिमन्त इह येऽत्रोदाहृतिर्गोपिका॥

२. यह श्रीहरिसूरिकृत 'श्रीभक्ति-रसायन' ग्रन्थ 'प्रपा' नामकी टीकाके सहित संस्कृतमें सत्साहित्यप्रकाशन ट्रस्ट, २८। १६, बी० जी० खेरमार्ग, बम्बई—६ से प्रकाशित है।

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत-वचन]

सभी अवस्थाओंमें श्रीश्यामसुन्दरकी प्रेमरस-सुधाधारामें डूबे रहो

सदा-सर्वत्र श्रीश्यामसुन्दरकी प्रेमरस-सुधाधारा प्रवाहित हो रही है—सभी अवस्थाओंमें, सभी समय। बस, निरन्तर उसीमें डूबे रहना चाहिये—

जन्म-मरण, न दुःख-सुख, कुछ हैं नहीं जिसमें कभी।
बह रही रस-सुधा-धारा नित्य प्लावित कर सभी ॥
छा रहा आनन्द अनुपम परम अतुल सदा वहाँ।
नाचते रहते अनोखे नीलमणि नित हैं वहाँ ॥

तुम सचमुच उसीमें डूबे हो। तुम्हारे चारों ओर भीतर-बाहर केवल नीलमणि ही नाच रहा है। नित्य नवीन विलक्षण भङ्गिमाओंमें—और उसके प्रत्येक पादक्षेपमें रस-सुधा-धारा बह रही है—नित्य। तुम संसारकी विषय-तमोमयी ज्वालाओंसे सर्वथा शून्य, परम शीतल, शान्त, कोमलतम, मधुरतम श्रीचरणोंका स्पर्श पाकर धन्य हो गये हो। अपनी इस महान् मुनि-मन-वाञ्छनीय स्थितिकी ओर देखो। तुम्हारा यह विषाद केवल तुम्हारी इस दुर्लभ स्थितिको उज्ज्वल बनानेके लिये है। तथापि तुम विषादकी यह चादर उतार दो और बहा दो—अपने अंदर-बाहर प्रेमानन्दकी सरिता। वह तो बह ही रही है। बस, दुनियाको भूलकर उसीमें बह जाओ। श्रीश्यामसुन्दर तुमपर स्वयं न्योछावर हैं। उनके नित्य सांनिध्यको तुम सहज ही प्राप्त हो। तुम्हारा अतुल सौभाग्य है। विषय-विषकी ज्वाला, मरणका भय, वियोगका भावी विषाद वहाँ है ही नहीं; वहाँ तो नित्य-निरन्तर शान्तिका, अमृतका, संयोगका अगाध सागर लहरा रहा है। वहाँ शरीर तथा संसारकी कोई भी सत्ता-महत्ता नहीं है। केवल प्राणप्रियतम हैं और है उनकी नित्य मधुर लीला—सभी अवस्थाओं और रसोंमें—करुण, मधुर, भयानक, बीभत्स—सभीमें उनका मधुरतम लीलारस-प्रवाह।

अमिलन परम सुखदायी भी होता है

प्रेमकी यह वास्तविक स्वरूपस्थिति है, जो भगवान्‌के नित्य पास रहनेपर भी उनका वियोग अनुभूत होता रहता है। एक बार श्रीराधाजी अपनी स्थितिका वर्णन करती हुई कहने लगीं—

वे प्रियतम मेरे श्याम प्राणधन प्यारे। रहते नित मेरे साथ, न होते न्यारे ॥
खाने-पीने-सोने-जगनेके सारे। करते वे कर्म, साथ मेरे ध्रुव तारे ॥
वे घुले-मिले रहते हैं मुझसे प्रतिपल। जो देख न पाते क्षणभर, होते व्याकुल ॥
मेरा सुख ही है उनका सुख अति निर्मल। वे रहते नित्य निमग्न उसीमें अविचल ॥
यों नित्य पास रहते भी, मैं खो जाती। खोकर फिर उनको मैं दुखिया हो जाती ॥
रोती, विलाप करती, पर उन्हें न पाती। मैं नित्यप्राप्त उन प्रियतम-हित बिलखाती ॥
लगता, वे रहते दूर, पास नहिं आते। मुझ प्रेमहीनको क्यों वे पास बुलाते ?
मैं रोती रहती सदा, न वे लख पाते। वे नहीं इसीसे खुद संयोग लगाते ॥
वे हँसते, मुझको देख भूलमें भारी। लख नित्य-मिलनमें अमिलन-गति हियहारी ॥

कहते—देखो; मैं पास तुम्हारे प्यारी । इस प्रेमदशा विचित्र पर मैं बलिहारी ॥
सुधि होती, खुलते नेत्र, चेत हो जाता । रस-स्रोत मधुरमें दुःख सभी बह जाता ॥
बढ़ता रसका अति वेग, परमसुख छाता । प्रियको नित पाकर साथ, न हर्ष समाता ॥

इस प्रकार भगवान्‌के नित्य-सत्य-मिलनमें अमिलनका बोध घोर दुःखदायी होनेपर भी उनकी स्मृतिका कारण होनेसे परमसुखदायी ही होता है; क्योंकि यह विछोहका महान् दुःख सब कुछ भुलाकर प्रियतम श्यामसुन्दरके स्मृति-समुद्रमें ही डुबाये रहता है ।

जिसका जीवन भगवान्‌में लगा है, उनके यहाँ उसीका महत्त्व है

पैसेवालोंकी दृष्टिमें आजकल जिनके पास पैसा नहीं है, उनका मूल्य बहुत ही कम है; पर यह तो संसारका स्वरूप है । भोगमय संसारमें भोग-महत्ता स्वाभाविक ही अधिक होती है । इसलिये जिनके पास भोग हैं, उन्हींका विशेष महत्त्व भोगियोंकी दृष्टिमें होता है । परंतु भगवान्‌के यहाँ उनका न कोई महत्त्व है, न उनकी कोई पूछ । वहाँ तो उसीका महत्त्व है, जिसका जीवन भगवान्‌में लगा हो—चाहे वह जगत्‌में अत्यन्त तुच्छ, नगण्य समझा जाता हो और जगत्‌के लोग उसका कितना ही अपमान-तिरस्कार करते हों । उसे भी—जो भगवान्‌में लगा है—न अपनी तुच्छता या नगण्यताको लेकर दुःख या क्षोभ है और न वह मान तथा सत्कारकी ही इच्छा करता है । वह इन बातोंको लेकर क्षुब्ध क्यों हो ? उसे तो अपने भगवान्‌में ही लगे रहना है । वह सदा-सर्वदा भगवान्‌के हृदयमें बसता है तथा भगवान्‌को अपने हृदयमें बसाये रखता है । वह क्यों किसी अन्य वस्तु या परिस्थितिकी इच्छा करेगा, क्यों मिलनेपर सुखी होगा तथा क्यों न मिलनेपर दुःखी या क्षुब्ध होगा । वह तो सदा आनन्दमग्न रहेगा । अतएव भगवान्‌के प्रेमीको संसारकी प्रत्येक परिस्थितिमें सुख या दुःखके विकारसे रहित होकर केवल भगवान्‌का ही बने रहना तथा इसीमें परमानन्दका अनुभव करना चाहिये ।

नित्य जो भगवानकी अति मधुरतम स्मृतिसें सना ।
रहता सदा आनन्दरत, आनन्दमय वह खुद बना ॥
जगतकी ज्वाला नहीं सकती जला उसको कभी ।
शान्त, शीतल हो चुके संताप बुझ करके सभी ॥
जगतके जो लोग आते कभी उसके पास हैं ।
वे सभी होते सुखी सत्वर बिना आयास हैं ॥
क्योंकि संतत झर रहा झरना सुधाका है जहाँ ।
दुःख-संकट मृत्युका विष रह नहीं सकता वहाँ ॥
सुधा-सरिता बह रही नित भागवत-सुखकी विमल ।
उठ रहीं आनन्दकी लहरें मधुरतम नित प्रबल ॥

मिलनकी चाह बनी रहना प्रेमका शुभ स्वरूप है

तुम निरन्तर भगवान्‌को अपना समझो, अपने समीप समझो तथा नित्य-निरन्तर उनकी परम सरस मधुरातिमधुर प्रेमसुधाका पान करते हुए प्रमत्त बने रहो । भूल जाओ संसारको, शरीरको तथा भोग-जगत्‌को । जिसके हृदयमें दिन-रात भगवान् रहते हैं, जिसका हृदय क्षणभरके लिये भी भगवान्‌को

नहीं छोड़ता, सदा उनसे संलग्न रहता है, उनके सिवा जिसको और कुछ भी सुहाता-भाता ही नहीं, उसके मनमें जगत्—जगत्के विषय-भोग कहाँ रह गये हैं। इतनेपर भी चाह तो बनी ही रहती है; पवित्र प्रभु-प्रेममें कहीं अन्त तो है नहीं। जिस प्रेममें प्यास बुझ जाती है, वह 'प्रेम' नहीं—वह तो गंदा 'काम' होता है। अतएव अपनेमें प्रेमकी कमी दीखना और दिन-रात प्रभु-मिलनकी चाह बनी रहना तो इसका शुभ स्वरूप है। 'मिले ही रहत पर कबहुँ मिले ना'—यही तो प्रेम है।

नित्य-निरन्तर प्रभुका अन्तर्मिलन होता रहे

प्रभु जो ठीक समझते हैं, वही होता है और वही वस्तुतः ठीक है। उसीमें परम संतुष्ट रहना चाहिये। जिसमें अनवरत प्रभु-स्मरणजनित परमसुख मिले, वह प्रभुका वियोग भी परम आदरणीय है, एवं जिसमें प्रभुकी उपेक्षा होकर स्मृति न रहे, वह संयोग या मिलन भी अवाञ्छनीय है। प्रभु अपनी चीजको चाहे जैसे बरतें, प्रेमी उनका हाथ कभी नहीं रोकता; परंतु जहाँ पद-पदमें और पल-पलमें उत्कण्ठा बढ़ाकर प्रभु अपनी ओर ही विशेषरूपसे खींच रहे हों, वहाँ तो हाथ रोकनेकी बात भी नहीं है। यह तो प्रभुका परम प्रेमदान ही है। अतएव तुम परम प्रसन्न रहो। कोई भी अवस्था तुम्हारे चित्तसे क्षणभरके लिये भी स्मृतिरूप प्रभुको न हटा सके; नित्य-निरन्तर प्रभुका अन्तर्मिलन होता ही रहे।

भगवान्ने जिसको अपना लिया, उसमें दोष कहाँ रहेगा ?

भगवान् हमारे दोष नहीं देखते, केवल भाव देखते हैं; और जैसे अपने सहज प्रकाशसे सूर्य घोर अन्धकारका तुरंत नाश कर देते हैं, वैसे ही अपने प्रेम-प्रकाशसे भगवान् तमाम दोषोंका नाश कर डालते हैं। भगवान्ने जिसको अपना लिया, उसमें दोष कहाँ रहेगा। जिनके हृदयमें भगवान् आ बसे और भगवान्ने अपने हृदयमें जिनको परम लोभनीय धन मानकर अत्यन्त ममतासे बसा लिया, उनमें दोष कहाँ रहे। यदि कोई दोष है तो वह भी भगवत्प्रेमरूप और प्रेमका दिव्य उद्दीपक ही है।

श्यामसुन्दर बिना संकोच-सहमके तुम्हारे साथ रहते हैं

मैं तुम्हें सदा-सर्वदा अत्यन्त प्रसन्न तथा सुखमय देखना चाहता हूँ। यह आत्यन्तिक सुख किसी भी लौकिक आशा, कामना, ममता, स्पृहा, आसक्ति आदिमें अथवा किसी भी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिमें है ही नहीं। यह तो एकमात्र भगवान्में है और वहाँ नित्य, अनन्त, असीम, अपार है। इसीसे भगवान्ने अर्जुनको अपनेमें (भगवान्में) चित्त जोड़कर आशा, ममता तथा कामनाके संतापसे रहित होकर युद्ध करने तथा प्रत्येक कर्मको भगवान्में निक्षेप करनेकी आज्ञा दी थी। ये भगवान् नित्य ही तुम्हारे साथ, तुम्हारे अत्यन्त आत्मीयरूपमें वर्तमान हैं। क्षणभरके लिये उनके वियोगकी कल्पना नहीं। प्रत्येक देश, प्रत्येक काल तथा प्रत्येक अवस्थामें वे तुम्हारे अपने श्यामसुन्दर तुम्हारे साथ बिना किसी संकोच-सहमके रहते हैं। तुम इसका अनुभव करो तथा नित्य अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके दर्शन, स्पर्श, सम्भाषण, मिलनका सुख प्राप्त करो। वे किसी दूसरे देशसे, किसी विशेष कालमें, किसी खास स्थितिमें तुम्हारे पास नहीं आते। वे तो हर देश-काल-स्थितिमें प्रत्यक्ष तुम्हारे साथ रहते हैं। इसमें जरा-भी संदेह नहीं है। यह देख लेनेपर उनके सुखके लिये तुम भले ही कहीं जाओ, परंतु उनसे मिलनेके लिये कहीं जानेकी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि वे तो बिछुड़ते ही नहीं, कभी बिछुड़ना जानते ही नहीं।

(पुराने पत्रोंसे संग्रहीत)

साधना

(लेखक—आचार्य श्रीमुंशीरामजी शर्मा, 'सोम')

साधन और साधना दोनों अन्योन्याश्रित हैं। साधक जिस सिद्धिको उपलब्ध करना चाहता है, उसके लिये उसे साधनोंके द्वारा साधना करनी पड़ती है। यह साधना प्रमुख-रूपसे शरीर, वाणी और मन—तीनोंके संयमका नाम है। प्राण इस साधनाका प्रमुख सूत्रधार है। प्राण यदि वशमें हो तो शरीर, वाणी और मन अपने-आप वशीभूत हो जाते हैं। हठयोगमें प्राणायामकी क्रिया प्राणको स्वायत्त करनेवाली है। प्राणमें सम्पूर्ण शरीर—आभ्यन्तर एवं बाह्य अधिष्ठित है। शरीरका स्वास्थ्य ब्रह्मचर्यपर आधारित है। ब्रह्मचर्यका अर्थ है—'अन्नके अन्तिम, सर्वोत्तम अंश वीर्यका रक्षण'। ब्रह्मचर्यके अन्य अर्थ भी हैं, परंतु शरीरके स्वास्थ्य-सम्पादनके सम्बन्धमें उसका उपर्युक्त अर्थ ही समीचीन है। वेद कहता है—

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।'

शरीरके अवयव-अवयवमें जो तेज फूटता है और जो शक्ति आती है, उसका एकमात्र कारण 'ब्रह्मचर्य' है। जो मृत्यु पल-पलमें प्राणीपर प्रहार किया करती है, उसका दूरीकरण ब्रह्मचर्यद्वारा ही सम्भव होता है। विद्यार्थी ही नहीं, आचार्य भी ब्रह्मचर्यसे ही अपने कार्यका सुचारु रूपसे सम्पादन कर पाता है। प्रजाका स्वास्थ्य यदि ब्रह्मचर्यसे सिद्ध होता है, तो राजा भी ब्रह्मचर्यके बलपर ही राष्ट्रकी रक्षा कर पाता है। जहाँतक शरीरका विस्तार है, वहाँतक ब्रह्मचर्यका ही प्रभुत्व है।

ब्रह्मचर्यको 'तप'की संज्ञा भी दी गयी है। 'तप'का अर्थ है—द्वन्द्वोंको सहन कर लेना। इसके द्वारा भी शरीर स्ववशी बनकर सुरक्षित रहता है। शौच या पवित्रता तपका ही परिणाम है। जिसने तप नहीं किया, उसका पवित्र बनना कठिन है। 'अतप्ततनू' को वेदने 'आम' अर्थात् कच्चा कहा है। जिस प्रकार कच्चे घड़ेमें पानी नहीं ठहर सकता, उसी प्रकार तपश्चर्यासे रहित प्राणीमें पवित्रता नहीं ठहर सकती। पवित्र व्यक्तिपर ही प्रभुकी ज्ञानामृत-धाराओंका क्षरण होता है। अतः ब्रह्मचर्य और तप शारीरिक स्वास्थ्य-के आवश्यक उपादान हैं और मानवको पवित्र प्रभुकी ओर ले जानेवाले हैं।

वाणीका संयम 'सत्य' है। जिस वाणीमें सत्यका निवास है, वही वाणी तेजस्विनी है। सत्यके साथ वाणीको सूनृत भी होना चाहिये। सूनृत वाणीमें मधु निवास करता है। मधुमयी वाणी जिसकी जिह्वापर खेलती हो, उसे वशीकरण-का मन्त्र सिद्ध हो गया समझिये। मधुमयी वाणी जहाँ सुखद सम्बन्धोंकी सृष्टि करती है, वहाँ कटुवाणी वैमनस्य उत्पन्न करके विरसताका प्रसार भी कर देती है। विरसतामें जीवनका दुःखद-पक्ष उद्घाटित होता है, जिससे पद-पदपर जीवन-यापनमें कठिनाइयाँ आने लगती हैं। जो मानव साधनामें लगा है, उसके मार्गमें जब विघ्न-व्यूह खड़े हो जाते हैं तो वे उसे साधना-पथसे विचलित कर देते हैं। साधना ही भङ्ग हो गयी तो सिद्धि कैसे हाथ लगेगी ? अतः मानव-को अपनी वाणीमें सत्य और माधुर्यका समावेश करके अपने साधना-पथको प्रत्यूहोंसे पृथक् रखना चाहिये। मित-भाषण भी इसके लिये एक उपयोगी साधन है। जो जल्पी है, बकवादी है, उसका प्रभाव स्वभावतः क्षीण होने लगता है। ऊलजलूल बातें करनेवाला व्यक्ति श्रोताओंकी दृष्टिमें गिर जाता है। जो व्यक्ति आवश्यक एवं तथ्यसे पूर्ण बातें करता है, उसे सुननेके लिये सभी लालायित रहते हैं। वाणी-की यह साधना स्वाध्यायकी भी अपेक्षा रखती है। स्वाध्यायशील व्यक्ति अपने मनन और चिन्तनके द्वारा नीर-क्षीर-विवेकी बनकर उपयोगी शब्दोंका ही प्रयोग करता है। नीतिकारोंका कथन है कि मानवको या तो सभामें जाना नहीं चाहिये और यदि जाता है तो उसे अपनी वाणीद्वारा सत्यका ही समर्थन करना चाहिये। असम्बद्ध तथा अनुपयोगी वार्तालाप मनुष्यको श्री एवं शोभासे वञ्चित कर देता है। उसका प्रभाव भी परिणामतः विपरीत ही होता है। समाजसे ऐसे व्यक्तिकी साख उठ जाती है। अतः वाणीका संयम साधनापथका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

मनका संयम इन दोनों संयमोंके भी ऊपर है। मनका अभिव्यञ्जन वाणीद्वारा होता है। अतः वाणीके संयमपर जो कुछ लिखा गया है, उसका कुछ अंश मनसे भी सम्बद्ध है। मन चेतनाका अंश है। उसका क्षेत्र भी विस्तृत है। उसमें मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार—चारोंका समावेश किया जा सकता है। यजुर्वेदके ३४वें अध्यायमें मनका गहन एवं विशद निरूपण हुआ है। मन बड़ा वेगवान् है।

यह ज्योतियोंकी भी ज्योति है। इसीके बलपर धीर एवं मनीषी व्यक्ति असाधारण यज्ञकर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। प्रज्ञान, चेतना, धृति और अमरत्व मनमें ही निहित हैं। इसके विना कोई भी कर्म नहीं होता। वर्तमान, भूत और भविष्य-का ज्ञाता मन ही है। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ इसीके सहारे ज्ञान-समुद्रमें डुबकी लगाकर ज्ञानामृतका संचय करती रहती हैं। ऋक्, यजुः और सामका प्रतिष्ठान मनमें ही है। कठोपनिषद्-में 'आत्माको रथी, शरीरको रथ, बुद्धिको सारथि, इन्द्रियोंको अश्व तो मनको लगाम कहा गया है।' लगामको रोकने अथवा ढीली छोड़ देनेसे घोड़ोंकी गतिपर प्रभाव पड़ता है। अतएव इन्द्रियोंको वशमें रखनेके लिये मनरूपी प्रग्रह (लगाम) को कसे रहना आवश्यक है।

गीता मनरूपी प्रग्रहके निग्रहको वायुके निग्रहके समान सुदुष्कर कहती है। वायु भी प्रबल वेग रखती है। उसे रोक रखना अतीव कठिन कार्य है। मनके भी वेगको संयममें रखना बहुत कठिन है। परंतु यह भी निश्चित है कि जबतक मन वशमें नहीं है, तबतक उत्थान भी असम्भव है। '**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**' मन असंयत है तो बन्ध-ही-बन्ध है। इसके विरुद्ध यदि मन संयत है तो मोक्षका द्वार भी उन्मुक्त है।

मनके संयमके लिये दृढ़ एवं कल्याणकारी संकल्प एक अमोघ साधन है। वेद कहता है—**आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु।** (शु० य० २५।१४) '**भद्र क्रतु**' अर्थात् संकल्प ही हमारे अंदर आने चाहिये। यजुर्वेदके मन्त्रोंमें भी '**तन्मे मनः शिव-संकल्पमस्तु**' की टेक दुहरायी गयी है। हमारा मन शिव संकल्पोंवाला बने। शिवसंकल्प साधनापथपर आरूढ़ साधकोंके लिये परमावश्यक है। चैतन्याग्निका प्रज्वलन इसी आधारपर होता है।

ज्ञान, कर्म और भक्तिका समन्वय मनके क्षेत्रकी ही अनुपम साधना है। हठयोगमें मनको उन्मन बनानेकी प्रणाली उल्लिखित है। मनकी जो धारा विषय-वासनाओंकी ओर बहती है, उसे उलटकर, विषयोंसे विरत करके, बाह्योन्मुखीसे अन्तर्मुखी बनाना पड़ता है। संतोंकी 'उलटधार' इसी उन्मनी अवस्थाकी सूचिका है। पातञ्जल-योगमें इसीको 'प्रत्याहार' कहा गया है। जैसे पशुको चोर चुरा ले जाता है तो पशुके पद-चिह्नोंको देख-देखकर चलता हुआ पशुका स्वामी उसे प्राप्त कर लेता है, वैसे ही यदि अपनी दर्शन-शक्तिको पकड़ना है तो हमें उसके संकेतोंको समझते हुए तथा उनका अनुगमन करते हुए उसे पकड़ना पड़ता है। उन्मन इसी शक्तिको ग्रहण करनेमें समर्थ होता है। जैसे पक्षी अपने दोनों पंखोंको फड़फड़ाता हुआ आकाश-में ऊँची उड़ान भरता है, वैसे ही यह मन भी ज्ञान और कर्मके पंखोंके सहारे उड़ता हुआ ऊँचा उठ जाता है। 'उन्मन'में 'उत्'का अर्थ भी ऊँचा ही है। विषयोंमें फँसना गिरना है। शिव-संकल्पके सहारे आत्मातक पहुँचना उन्नयन है, ऊपर उठना है।

साधनामें पथके ज्ञाता, चीर्णव्रत गुरु भी अनुपम सहायक सिद्ध होते हैं। साधकको असमर्थ समझकर गुरु अपनी संकल्प-शक्तिका संचार शिष्यके अंदर कर सकता है। कभी हृदयस्थ भावके सहारे, कभी आँखोंमें आँख डालकर और कभी मनके द्वारा वह शिष्यको अपनी शक्तिके बलपर मार्गदर्शन करा देता है, गन्तव्यरूपी ज्योतिकी झलक दिखला देता है, शिष्यके अंदर उसे स्थिर भी कर देता है; परंतु फिर भी आगेका कार्य शिष्यके अपने बल-बूतेपर ही, अपने अभ्यासपर ही, अपने साधना-सम्बलपर ही अवलम्बित है। वेद कहता है—

'**स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व, स्वयं यजस्व, स्वयं जुषस्व। महिमा ते अन्येन न संनशे।**' (शु० य० २३।१५)

'साधक! तू स्वयं अपने शरीरकी साधना कर। स्वयं साधना-पथपर आगे बढ़। अपनी सेवा अपने आप कर। तेरी महिमा तेरेद्वारा ही सिद्ध हो सकेगी। कोई अन्य उसे तेरे लिये प्राप्त नहीं करा सकेगा।'

साधना इन्हीं तीन क्षेत्रोंतक सीमित है। साधकको प्रयत्नपूर्वक असत्से सत्की ओर चलना है, तमसे ज्योतिकी ओर बढ़ना है और मृत्युसे हटकर अमरता प्राप्त करनी है। अमरत्वका वरण ही उसका लक्ष्य है। जबतक वह अधम, मध्यम या उत्तम शरीरोंमें बँधा है, तबतक मरण ही मरण है। अमरता आत्मस्थ होनेमें है। आत्मोपलब्धि समस्त उपलब्धियोंकी उपलब्धि है। साधककी साधनाका अन्तिम बिन्दु यहीं जाकर समाप्त होता है।

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

संसारसे मनको हटाकर भगवान्‌में लगाइये

एक बात खूब ध्यानमें रखनेकी है—भगवान्‌के मार्गमें बढ़नेवालेको साथी नहीं खोजना चाहिये। साथ मिल जाय, ले ले; किंतु साथकी अपेक्षा न रखे। खासकर आजकल कलियुगके भीषण वातावरणमें संसारके गर्तसे निकालनेमें सहायता देनेवाले साथी बहुत कम मिलते हैं।

कालके प्रवाहमें आज जिसे मनुष्य अपना कहता है, वे सब-के-सब छिन्न-भिन्न हो जायँगे। आप ही सोचें—इस जन्मके पहले भी तो आप कहीं थे ही, परिवार भी होगा ही; किंतु आज उसकी स्मृतितक नहीं है। वे भूखे मर रहे होंगे तो भी आपको उनका पता नहीं। इसी प्रकार मृत्यु वर्तमान परिवारकी स्मृति भी नष्ट कर देगी। पर मोहवश मनुष्य विचारता नहीं। तात्पर्य यही है—संसारसे मनको हटाकर भगवान्‌में लगाना चाहिये। समय किसीकी प्रतीक्षा नहीं करता। किंतु हताश भी होनेकी जरूरत नहीं है। कृपामयका आश्रय जिसने वाणीसे भी ले रखा है, उसका भी उद्धार वे करेंगे ही। फिर जो उनके चरणोंमें मन लगाना चाहते हैं, उनके लिये क्या कहा जाय।

भगवान्‌से मनको जोड़िये

आपका मन जिन-जिन पदार्थोंका चिन्तन करता है, उनसे कितने दिनोंसे सम्बन्ध है, जरा विचारें। इस देहके धारण करनेके समयसे ही तो उनका सम्बन्ध हुआ है। अतएव एक सीमित समयके चित्र बार-बार मनमें उलट-पलट करके आते हैं और किसीसे राग होता है, किसीसे द्वेष होता है; किसीको आप अपना मानते हैं, किसीको पराया; किसीसे दुःखी होते हैं, किसीसे प्रसन्न होते हैं—यही भूल है। हमलोगोंको इसीको मिटाना है। इन सब स्थानोंसे मनको निकालना है और सबके बदले केवल एक भगवान्‌का चिन्तन करना है। हमारे चिन्तनका जितना स्थान भगवान् ग्रहण करेंगे, उतना अंश विषयोंसे रहित होगा। जिस दिन केवल भगवान्-ही-भगवान् रहेंगे, उस दिन संसार पूर्णरूपसे निकल जायगा। हमलोग अभ्यास करें, चेष्टा करें मनको निरन्तर भगवदाकार बनानेकी। पहले विश्वास करें—'इस जगत्‌में सुख नहीं है; फिर प्रतीति होनेपर विचारके द्वारा निश्चित करें—यहाँ सुख नहीं है। 'इस प्रकार निरन्तर—'यहाँ इस जगत्‌में सुख नहीं है', इसकी भावना दृढ़ करते हुए भगवान्‌से मनको जोड़िये। देखिये, भगवान् कोई कल्पनाकी वस्तु नहीं हैं। वे हैं, सत्य हैं, नित्य हैं और आपकी प्रत्येक चेष्टाको देखते हैं। यदि सचमुच पूरी ईमानदारीसे अपनी ओरसे मनको लगानेकी पूरी चेष्टा करें तो कृपामयकी कृपा शेष कमी पूरा कर देगी। वे केवल नीयत देखते हैं। प्रयासकी तत्परता होनेपर उनकी कृपासे स्वयं संसारसे मन हटेगा और उनकी ओर लगेगा।

व्यवहार जैसे है, वैसे ही रहे; मनमें केवल उनका ही आसन रहे

पूरी चेष्टा कीजिये, मनसे और सभी आसक्तियाँ मिट जायँ। खूब गम्भीरतासे विचारें और बार-बार सोचें—स्त्री आदिके प्रति मेरा प्रेम होनेका क्या कारण है? देखें, इसमें एक बड़ी सुन्दर रहस्यकी बात है। आप विचारें—आपका प्रेम आपकी स्त्री आदिकी चेतन आत्मासे है अथवा उसकी देहसे? यदि देहसे प्रेम होता, तो मरनेके बाद—शरीरसे चेतन आत्माके निकल जानेके बाद भी उसे रहना चाहिये; पर सच मानिये, यदि आप कहीं जीवित रहे और आपकी स्त्री आदिमेंसे किसीकी मृत्यु हो गयी और उसके बाद यदि कोई आपको उस कमरेमें अकेले रहनेके लिये कहे तो डर लगेगा। आप शायद नहीं रहियेगा। ऐसी बात क्यों होती है? इसलिये कि अब उस देहमें भगवान्‌का जो चेतन

अंश था, वह नहीं रहा। भगवान्का अंश निकल जानेपर वह चीज इतनी भयावनी हो गयी कि अब उसके पास बैठनेमें भी डर लगता है। उनका अंश जबतक था, तबतक वह चीज प्रिय थी। अब सोचें, उनके अंशको लेकर ही तो आप इतने फँस रहे हैं। यदि स्वयं अंशी पूर्णरूपसे प्राप्त हो जायँ तो कितना मधुर लगेगा? कितना आकर्षण होगा? स्वयं भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीसे कहा है—

अहमात्माऽऽत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि।
अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः॥
(श्रीमद्भागवत ३।९।४२)

'विधाता! मैं आत्माओंका भी आत्मा और स्त्री-पुत्रादि प्रियोंका भी प्रिय हूँ। देहादि भी मेरे ही लिये प्रिय हैं। अतः मुझसे ही प्रेम करना चाहिये।'

इन बातोंपर खूब विचार कीजिये। व्यवहार जैसे है, वैसे ही रहे; पर मनको खाली कर दीजिये। मनमें केवल उनका ही आसन रहे। संतलोग कहते हैं—ऐसी बात हो सकती है, यदि कोई सच्चे हृदयसे चाहने लगे। सच्ची चाह निर्मल अन्तःकरणमें होती है और निर्मल-अन्तःकरण बननेका सर्वोत्तम एवं सुलभ साधन है—निरन्तर नाम-रटन।

निराश मत होवें, भगवान्की कृपाकी बाट देखते रहें

आपको अपनी स्त्री आदिकी बीमारीकी चिन्ता है, सो स्त्री आदिके सम्बन्धमें यह बात विचारना चाहिये कि मङ्गलमयके विधानके अनुसार जो होना होगा, वही होगा। उनकी मृत्युमें हमारा मङ्गल होगा तो मृत्यु आकर ही रहेगी और यदि संयोगमें मङ्गल होगा तो संयोग वे कभी नहीं तोड़ेंगे। इसके अतिरिक्त ज्योतिषके निर्णयसे अल्पायु एवं दीर्घायुका ठीक-ठीक पता चलना आजकल कठिन है। ज्योतिषशास्त्र ठीक है, पर उसके जाननेवाले आजके युगमें बहुत कम हैं। सबसे मुख्य बात यह है कि भगवान्के विधानको जाना भी नहीं जा सकता। यह सोचकर इस विषयमें आपको निश्चिन्त ही रहना चाहिये। आर्थिक प्रश्नको लेकर मनमें चिन्ता होनी भी स्वाभाविक है। साथ ही आप जैसे वातावरणमें रह रहे हैं, उसमें भगवान्पर विश्वासकी शिथिलता होना कोई आश्चर्य नहीं है। पर आप मनमें इस बातको निश्चय कर लें कि यह बात सर्वथा प्रारब्धसे सम्बन्ध रखती है। प्रत्येक प्राणीका प्रारब्ध अलग-अलग है। सुख-दुःख जैसे, जिसके प्रारब्धमें हैं, वे आयेंगे ही। रोनेपर केवल दुःख बढ़ता है। खासकर आपको तो इन बातोंको छोड़ देना चाहिये। आप एवं आपसे सम्बन्ध रखनेवाली समस्त वस्तुएँ उनकी (भगवान्की) हैं। वे चाहे-जैसे उन्हें काममें लायें। यदि विवेक बटोरकर बार-बार मनको इस प्रकार सुझाव (सजेशन) दीजियेगा तो उनकी कृपासे मन इन बातोंको ग्रहण करने लगेगा।

देखें, घबरायें बिल्कुल नहीं। उनपर निर्भर होनेकी चेष्टा कीजिये। वे स्वयं बल देंगे। देरसे दें, जल्दी दें, कभी दें, पर देंगे अवश्य। एक क्षणके लिये भी निराश मत होवें। उनकी कृपाका एक क्षणके लिये भी अनुभव होनेपर स्त्री आदिके प्रति सारा मोह, संसारका सारा प्रलोभन उसी क्षण हवा हो जायगा। कृपाका अनुभव भी उनकी कृपासे ही होगा। आप बाट देखते रहें। वस्तुतः भगवान्की कृपा ऐसी होती है कि हमलोग उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। बस, आवश्यकताभर बोलनेके बाद जागनेसे लेकर सोनेतक मशीनकी तरह जीभ भगवान्का नाम लेती रहे—यह काम अवश्य होना चाहिये। यह हो सकता है; यदि नहीं होता है तो समझ लें कि मन आपको बुरी तरह धोखा दे रहा है। सावधान हो जाइये। कम-से-कम आप इतना ही कीजिये, बाकी वे सब कर देंगे, कर देंगे, कर देंगे। सारी व्यवस्था ठीक हो जायगी, हो जायगी, हो जायगी।

दक्षिणामूर्ति

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः॥

'आश्चर्यकी बात है कि वटवृक्षकी जड़के समीप गुरु जो बैठा है, वह तो युवा है—नित्य युवा है वह और उसके समीप बैठे शिष्य ऋषि-महर्षि वृद्ध हैं। गुरु अपने मौनसे ही प्रवचन कर रहा है, मौन ही उसका प्रवचन है और इस प्रवचनसे शिष्योंके सभी संदेह मिट चुके हैं।'

वटवृक्षके नीचे वेदिकापर वामपाद लटकाये और उससे अज्ञान-पुरुषको दबाये, दक्षिणपाद वाम ऊरुपर स्थापित किये, कर्पूरगौर, त्रिलोचन, चतुर्भुज, गङ्गाधर, चन्द्रशेखर, नीलकण्ठ, हस्तिचर्माम्बर, नागयज्ञोपवीती, विभूतिभूषण, ज्ञानमुद्रासे स्थित, दक्षिणाभिमुख भगवान् शंकरकी यह दक्षिणामूर्ति गुरुमूर्ति है। यह महेश्वरका ज्ञानदाता आचार्यरूप है। परमगुरुके रूपमें यह ध्येयमूर्ति है।

परमगुरु भगवान् शिव हैं। समस्त विद्याओंके वे प्रथमाचार्य हैं और व्याकरणके मूलसूत्र—वर्णमाला-के अक्षरोंका प्रादुर्भाव उनकी डमरूध्वनिसे हुआ है। अव्यक्त वाक् मानव-स्वरमें उनके अनुग्रहसे अवतीर्ण हुई।

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥

(मानस १। ३७। श्लोक)

'नित्यबोधमय गुरु भगवान् शिव—उनका आश्रय लेकर द्वितीयाका क्षीण, वक्र चन्द्र भी वन्दनीय हो गया है।'

परमगुरुकी चर्चा आयी तो मुझे स्मरण आ गया—मैं कैलास-मानसरोवरकी यात्रापर जा रहा था। गर्ब्योगसे कुछ और यात्री साथ हो गये थे। हमलोगोंने हिम-शिखरके नीचे विश्राम किया था रात्रिमें और चार बजे ही चढ़ाई प्रारम्भ कर दी थी। सूर्योदयसे पूर्व यदि हिमशिखर पार हो जाय तो ठीक। धूपमें प्रखरता आनेसे पूर्व जो बरफ पत्थर-सी कठोर है, वहीं धूप होनेपर नरम हो जायगी। उसमें कहाँ घुटनोंतक और कहाँ कटितक धँसना पड़ेगा, कहना कठिन है।

गर्ब्योगसे तकलाकोट जानेके इस मार्गमें केवल एक हिमशिखर पार करना पड़ता है। हम आधीके लगभग चढ़ाईपर पहुँचे होंगे कि हिमपात प्रारम्भ हो गया। इस वर्ष ग्रीष्मारम्भमें अभीतक मार्ग खुला नहीं था। केवल कुछ बकरीवाले एक दिन पूर्व गये थे। हमारा यात्री-दल पहला ही था। सर्वत्र भूमि हिमसे पर्याप्त ऊँचाई तक ढकी थी।

जैसे कद्दूकसपर कसकर बहुत पतली नारियलकी गिरी टोकरोंसे ऊपरसे गिरायी जा रही हो, ऐसा था वह हिमपात। हमें अपने आगे कठिनाईसे एक या दो फुट दीखता था। बहुत घने कुहरेसे भी घना था वह अन्धकार।

मार्गदर्शकने हिमपातके प्रारम्भमें ही चेतावनी दी—'मेरे खोजपर ही पैर रखकर चलें। उतराईमें साथ रहें सब। जहाँ-तहाँ मार्गसे थोड़े ही इधर-उधर गहरे खड्ड हिमसे ढके हैं।'

हिमपात कोई पद-चिह्न दो क्षण भी नहीं रहने देता था। कठिन चढ़ाई, प्राणवायुकी वायुमण्डलमें कमी और ऊपरसे यह हिमवर्षा। सबको अपनी-अपनी पड़ी थी। सब आगे-पीछे हो गये। कौन कितना पीछे है, यह न देखा जा सकता था, न देखनेका अवकाश था। मार्गदर्शक अवश्य बीच-बीचमें पुकार लेता था।

मैं पूरा बल लगाकर चढ़ रहा था। दूसरोंकी अपेक्षा पर्वतीय चढ़ाईका मुझे अभ्यास भी था। मैंने मार्गदर्शकके शब्द पीछे सुने। उसकी उपेक्षा करके बढ़ता गया। किसी भी प्रकार यह विकट चढ़ाई पार कर लेनेकी धुन थी।

शिखरपर पहुँचा तो हिमपात अधिक बढ़ गया। शीतका यह हाल कि नाकसे निकली श्वासका पानी मूँछोंपर हिम बनकर जम गया था। श्वास लेनेमें कष्ट हो रहा था, उस ऊँचाईपर। अतः रुककर प्रतीक्षा कर लेनेका, साथियोंको आ जाने देनेका धैर्य नहीं रहा। मैं उतरने लग गया। जैसी खड़ी कठिन चढ़ाई थी,

वैसा ही खड़ा उतार था। एक बार चला तो पैरों-की गति स्वतः बढ़ती गयी।

'तिष्ठ!' सहसा बड़े कड़े स्वरोंमें किसीने समीपसे ही कहा। मेरे पद एकाएक रुक गये। मैंने खड़े होकर इधर-उधर देखा। सघन हिमपातके कारण कुछ देखना सम्भव नहीं था। बस, ऐसा लगा कि दाहिनी ओर एक मानवाकार, पर बहुत अकल्पनीय दीर्घ कोई छाया-सी है। इससे अधिक दीखनेकी आशा उस हिमपातमें नहीं थी।

'अपनी छड़ीसे सम्मुख देखो।' अत्यन्त सरल संस्कृतमें फिर मुझसे कहा गया। मैंने हाथकी छड़ी अपनेसे थोड़े आगे भूमिमें गड़ानेका प्रयत्न किया तो वह भीतर घुसती चली गयी। एक बार मेरा पूरा शरीर काँप गया। इसका अर्थ था कि मैं कोमल हिमसे ढके किसी गहरे खड्डके कगारपर खड़ा था। एक पद और उठा होता तो पता नहीं, कई सौ या कई सहस्र फुट गहरे हिमके नीचे देह पहुँच गया होता।

'आप कौन?' दो क्षण लगे मुझे अपनेको स्थिर करनेमें। दो पद पीछे हटा मैं और तब मैंने पूछा।

'तुम्हें इससे प्रयोजन नहीं है।' उत्तर आया। 'मुझे तुम्हारी रक्षाके लिये भेजा गया है।'

'किसने भेजा है?'

'महाबुद्धने।'

'महाबुद्ध कौन?'

'हाँ—यह तुम जान सकते हो, उत्तर आया। 'तुम्हारे यहाँ देशमें बहुत मन्दिर हैं, शिवके। उनमें प्रत्येक मन्दिरमें पूजन होता है। शिव उतने हैं क्या?'

'नहीं, वे एक हैं।'

'प्रत्येक जिज्ञासुके पृथक्-पृथक् गुरु होते हैं; किंतु सचमुच व्यक्ति गुरु नहीं होता।' वे अदृश्य कह रहे थे। "गुरुतत्त्व—परमगुरु एक ही है। हम उसे 'महाबुद्ध' कहते हैं। तुम शेष, शिव या श्री कहते हो।"

एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि॥

मुझे गुरुवन्दनाके श्लोकका यह उत्तरार्ध स्मरण आया। एक, नित्य, विमल, अचल, समस्त बुद्धियोंका साक्षी, भावातीत और त्रिगुणरहित, भला, व्यक्ति हो कैसे सकता है?

लगा कि दाहिनी ओर जो अस्पष्ट छायाकृति थी, वह वहाँ नहीं है। जानेसे पूर्व उसने कहा था—'अपनी वामभुजाकी ओर घूम जाओ। थोड़ी दूर चलो। हिम-रहित शिला मिले तो उसपर खड़े होना। तुम्हारे साथी तुम्हें शीघ्र मिल जायँगे।'

मैं घूम गया। थोड़ी दूरीपर पर्वतका एक भाग कुछ आगे झुका मिला। फलतः उसके समीपकी शिलापर हिम नहीं था। मैं वहाँ खड़ा ही हुआ था कि हिमपात बंद हो गया। धूप निकल आयी। मेरे साथी पर्वतसे उतरते समीप आ पहुँचे थे। भला, उनसे मैं क्या कहता।

गुरु व्यक्ति नहीं होता—जैसे मूर्ति धातु या पाषाण नहीं होती। मूर्तिमें हम सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् परमात्माकी आराधना करते हैं और उस माध्यममें हम उस दयामयका सांनिध्य पाते हैं। भगवत्सेवाका सुअवसर एवं भगवत्सांनिध्यका पूरा लाभ मूर्ति हमें देती है।

गुरु व्यक्ति नहीं है। उसमें व्यक्तित्व बचा है तो वह गुरु ही नहीं है। सर्वधीसाक्षिभूत परमगुरुका श्रीविग्रह है वह।

परमगुरु—आचार्यविग्रह महेश्वर भगवान् दक्षिणा-मूर्ति। विश्वको अज्ञानान्धकारसे त्राण देनेके लिये ही वे अज्ञानके अधिदेवताको अपने वामपादके नीचे दबाये ज्ञानमुद्रामें सुप्रसन्न अवस्थित हैं।

आपको योग्य गुरु नहीं मिलता? आपने ढूँढ़ देखा—किसीमें आपकी श्रद्धा नहीं होती?

पहली बात—बहुत दयनीय हैं आप। बड़ा दृढ़-मूल है आपका अभिमान, जो कहीं आपको श्रद्धा नहीं करने देता।

दूसरी बात—क्या चौथी कक्षाका विद्यार्थी बारहवीं कक्षाके छात्रकी योग्यता जान सकता है? अपनेसे अधिककी योग्यता जाननेका उपाय नहीं है। आप केवल यह जान सकते हैं कि यह हमसे अधिक योग्य विद्वान् या साधक है। कोई महापुरुष है या नहीं, यह आप जान नहीं सकते। इसपर आप केवल श्रद्धा कर सकते हैं।

तीसरी बात—आपके समीप एक कसौटी है। जो आपसे, संसारमें किसीसे भी कुछ चाहता है, कुछ आशा करता है—भले वह सम्मान पानेकी ही आशा-इच्छा हो, वह साधक भी नहीं है। वह महापुरुष कहाँसे होगा। महापुरुषमें कामना नहीं होती। साधकको कोई कामना हुई तो उसका आराध्य न कृपण है न असमर्थ। अतः वह अपने आराध्यको छोड़कर किसीसे कुछ नहीं चाहता।

'तीनों बातें ठीक; किंतु गुरु न मिले तो ?'

परमगुरु कहीं चले गये हैं ? वे समस्त बुद्धियोंके साक्षी हैं तो आपकी बुद्धिके साक्षी नहीं हैं ? आप उनकी—सबके आचार्यरूप दक्षिणामूर्तिकी शरण क्यों नहीं लेते ? उनकी कृपा किसी भी प्रतिबन्धकसे प्रतिरुद्ध नहीं हुआ करती। आप उनकी शरण लेंगे तो ज्ञानका प्रकाश आपके हृदयमें स्वतः होगा और यदि आपको किसी देहधारी मार्गदर्शककी ही सचमुच आवश्यकता है तो क्या उसे आपतक भेज देनेमें वे समर्थ नहीं हैं ?

आपकी आवश्यकता—इस आवश्यकताको आप ठीक-ठीक समझते हैं या वे सर्वज्ञ ? आपकी आवश्यकता-नुभूति भ्रान्त नहीं हो सकती क्या ?

कोई मार्गदर्शक होगा—वह व्यक्ति तो नहीं होगा। वह उनसे अभिन्न होकर, उन परमगुरुका प्रतीक होकर ही तो मार्ग-दर्शन करेगा। तब उसे कहीं भेज देनेमें उन्हें कोई कठिनाई है ?

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

(दक्षिणामूर्त्यष्टकम् २)

'दर्पणके भीतर प्रतिबिम्बित नगरके समान यह सम्पूर्ण विश्व मायासे अपने-आपमें ही उसी प्रकार बाह्यकी भाँति दीखता है, जैसे स्वप्नमें दीखनेवाला संसार—सूर्य-चन्द्र, पृथ्वी-आकाश, सचराचर प्राणी—अपने भीतर होते हुए भी बाहर-सा दीखता है। इस प्रकार बोधवृत्तिके उदयकालमें जो अपने अद्वय आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करते हैं, उन गुरुमूर्ति श्रीदक्षिणामूर्तिको हमारा नमस्कार।'

नमस्कार—उन अद्वय, ज्ञानस्वरूप, करुणासागरकी और कोई सेवा-अर्चा क्या की जा सकती है। उनके श्रीचरणोंमें अपने अहंको, अपने अस्तित्वको शिथिल करके नत हो जायँ हम, यही हमारी सबसे बड़ी सेवा है।

बाबा! तुम शंकर हो तो और प्रलयंकर हो तो, तुम शिव हो तो और रुद्र हो तो, तुम पिता हो तो और गुरु हो तो, शिशु तुम्हारे चरणोंमें नत है। अपने कल्याण—अपने हितसे अज्ञ शिशु तुम्हारे श्रीचरणोंमें प्रणत है।

आप उन पङ्कजारुण विधि-सुर-मुनि-वन्द्य श्रीचरणोंमें मनसे नमस्कार करके, अपनेको नत करके देखें! ज्ञान-घनकी कृपावृष्टि आपको आप्लावित करके रहेगी।

आँखोंके जल-बीच डुबा दो अहंकार मम सारा

['गीताञ्जलि'के 'आमार माथा नत करे दाओ' गीतका भावानुवाद]

चरण-कमल-रज तले झुका दो अपने भाल हमारा।
आँखोंके जल-बीच डुबा दो अहंकार मम सारा॥
अपनेको कर गौरव-दान,
अपना ही करता अपमान,
घेर-घेर निजको ही प्रतिपल फिरता मारा-मारा।
आँखोंके जल-बीच डुबा दो अहंकार मम सारा॥
करूँ न निज प्रचार निज कर्मोंसे—यों मुझे बनाओ।
अपनी ही इच्छा तुम मेरे जीवन बीच पुराओ॥
माँग रहा मैं चरम शान्ति तव,
प्राणोंमें, बस, परम कान्ति तव,
बैठो मेरी आड़, हृदम्बुज आसन बने तुम्हारा।
आँखोंके जल-बीच डुबा दो अहंकार मम सारा॥

—माधवशरण

योगिराज गम्भीरनाथ

(लेखक—श्रीरामलाल)

योगिराज गम्भीरनाथ सिद्धपुरुष थे। उन्होंने हठयोग, लययोग और राजयोगके क्षेत्रमें आत्मसिद्धि प्राप्त की थी। नाथयोग-परम्परामें इधर सात-आठ सौ वर्षोंमें उनके-जैसे योगीका दर्शन नहीं हुआ था। ऋद्धियों और सिद्धियोंने उनके चरणस्पर्शको अपना परम सौभाग्य समझा। वे शान्ति और गम्भीरताके उज्ज्वलतम रूप थे। बड़े-बड़े संतों और महात्माओंने उनके चरणोंमें अपनी श्रद्धा समर्पितकर आत्ममोक्षका विधान प्राप्त किया। हिमालयसे कन्याकुमारी अन्तरीपतकके भूमिभागमें बीसवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें इतने बड़े योगीका दर्शन अन्यत्र दुर्लभ था। उन्होंने मानवताको योगशक्तिसे सम्पन्न किया। उन्होंने योगब्रह्म—शिवका साक्षात्कार-लाभ किया। भारतके प्रायः समस्त तीर्थोंमें परिभ्रमण कर योगिराज गम्भीरनाथने उनकी महिमामें विशेष अभिवृद्धि की। माना, योगिराजका प्राकट्य उस समय हुआ था, जब भारत विदेशी शक्तिकी अधीनतामें था; पर गम्भीरनाथजीके लिये तो भौतिक जगत्की पराधीनताका कोई महत्त्व ही नहीं था; वे तो जागतिक प्रपञ्चसे अतीत थे। वे रहस्यपूर्ण ढंगसे आध्यात्मिक क्रान्तिका सृजन कर रहे थे। उनके योग-उदयकालमें विदेशी शासनको निकाल बाहर करनेके लिये बंगाल तथा अन्य प्रान्तोंमें सशस्त्र राजक्रान्तिकी योजना कार्यरूपमें परिणत हो रही थी। महात्मा गम्भीरनाथने राजनीतिक क्रान्तिकारियोंकी आध्यात्मिक पिपासाकी तृप्ति की। अगणित बङ्गीय युवकोंने उनके पथ-प्रदर्शनमें गम्भीर, अखण्ड और शाश्वत स्वतन्त्रता-ज्योति—आत्मशान्तिका दर्शन किया।

महात्मा गम्भीरनाथने सिद्ध योगपीठ—गुरु गोरखनाथकी तपोभूमि गोरखपुरको अपनी तपस्यासे अक्षय समृद्धि प्रदान की। वे निरन्तर योगस्थ रहते थे। वे श्रीभगवद्गीताकी भागवती विज्ञप्ति—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(६। ४७)

—'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मेरेमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझे ही निरन्तर भजता है, वह मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है।'—में अटल विश्वास रखते थे। योगिराज गम्भीरनाथ अपने समयके सर्वश्रेष्ठ योगी थे; वे धर्मतत्त्वके मर्मज्ञ और असाधारण आत्मज्ञ थे। उनके समकालीन महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीकी मान्यता थी कि 'हिमालयके देशमें—भारतदेशमें उनके-जैसा योगी कोई दूसरा नहीं है।' महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी उनकी परम योगविभूतिसे बहुत प्रभावित थे। महात्मा गम्भीरनाथकी साधना शैव-दर्शनके सिद्धान्तसे प्राणान्वित थी। वे शैव योगी होते हुए भी शुद्ध सच्चिदानन्द तत्त्वके निरपेक्ष और निष्पक्ष द्रष्टा थे। उनका योग श्रीगोरखनाथकी योगपद्धतिसे परिपुष्ट था। महात्मा गम्भीरनाथने गुरु गोरखनाथकी योग-साधनाका बीसवीं शताब्दीमें पूर्ण प्रतिनिधित्व किया। योगिराज गम्भीरनाथने योग और ज्ञानका समन्वय किया।

महात्मा गम्भीरनाथके पूर्वाश्रमके सम्बन्धमें कुछ भी निश्चितरूपसे कहना या लिखना आसान नहीं है। उनका जन्म विक्रमीय उन्नीसवीं शताब्दीके चौथे चरणमें काश्मीर प्रदेशके एक गाँवके समृद्ध परिवारमें हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा साधारण ढंगकी थी। बचपनसे ही उनके जीवनमें योगाभ्यासके साम्राज्यमें प्रवेश करनेके पहले विषय-सुखकी सुविधा उपलब्ध थी; पर उनका ध्यान उसकी ओर तनिक भी नहीं था। पूर्वाश्रमके सम्बन्धमें पूछनेपर वे कहा करते थे—'प्रपञ्चसे क्या होगा?' उनकी सांसारिक पदार्थोंमें तनिक भी आस्था नहीं थी। धन-परिवार आदिके प्रति वे स्वाभाविकरूपसे विरक्त थे। जब वे नवयुवक ही थे, उन्हें सूचना मिली कि गाँवमें एक योगीका आगमन हुआ है। योगीने श्मशानमें अपना निवास चुना था। वे योगीसे मिलने गये। उन्होंने बड़ी श्रद्धासे कहा कि 'महाराज! घरपर मेरा मन नहीं लगता, संसारके विषय-भोग मुझे काटने दौड़ते हैं। मैं योगाभ्यास करना चाहता हूँ।' योगी नाथ-सम्प्रदायके थे। उन्होंने श्रीगम्भीरनाथसे कहा—'आप गोरखपुर जाकर गोरखनाथ-मठके महन्त योगी बाबा गोपालनाथजी महाराजसे योग-दीक्षा लीजिये। मैं आपकी महत्त्वाकाङ्क्षासे बहुत प्रसन्न हूँ। आप उच्चकोटिके योगी होंगे।'

श्रीगम्भीरनाथ योगीके आदेशसे गोरखपुरके लिये चल पड़े। वे गोरखनाथ-मठमें आये। लोग उन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो गये। उनके पास पर्याप्त रुपये थे, उन्होंने अच्छे-से-अच्छे रेशमी कपड़े पहन रखे थे। वे देखनेमें बड़े सौम्य और सुन्दर थे। महन्त गोपालनाथसे मिलनेपर उन्होंने उनके चरणोंमें आत्मार्पण कर दिया। वे नाथ-सम्प्रदायके योगमार्गमें दीक्षित हो गये। राजसी वेषका परित्याग कर श्रीगम्भीरनाथने कौपीन धारण कर योग-साधनाके निष्कण्टक राज्यमें प्रवेश किया। गोपालनाथजी महाराजने उनकी शान्त मुद्रासे प्रसन्न होकर उनको 'गम्भीरनाथ' नाम प्रदान किया। निस्संदेह वे गम्भीरताके परम दिव्य सजीव समुद्र ही थे। वे गोरखनाथ-मठमें निवासकर योगाभ्यास करने लगे। उनकी गुरुनिष्ठा उच्चकोटिकी थी। वे गुरुकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करते थे। उन्होंने बड़ी तत्परता और तपसे अपने आध्यात्मिक उत्तरदायित्वका निर्वाह किया। वे मौन रहा करते थे, सत्य-चिन्तन और मठके आवश्यक कार्योंके समीचीन सम्पादनमें लगे रहते थे। बाबा गोपालनाथने धीरे-धीरे उनको मठके उपास्यकी पूजा-अर्चामें नियुक्त करना आरम्भ किया। श्रीगम्भीरनाथकी उपस्थितिसे मठमें शान्ति साकार हो उठी। उन्हें गुरुने प्रसन्न होकर पुजारीका कार्यभार सौंपा। इस प्रकार श्रीगम्भीरनाथके तपोमय साधनापूर्ण जीवनमें कर्मयोग-भक्तियोगके उदय, ज्ञानयोग—परम अन्तःस्थ ज्योतिके दर्शनका पथ प्रशस्त कर दिया। बाबा गोपालनाथकी प्रसन्नता और कृपासे अभिभूत श्रीगम्भीरनाथकी प्रारम्भिक योगसाधनापर देवीपाटनके योगी शिवनाथका भी अमित प्रभाव था।

श्रीगम्भीरनाथने योग-साधनाके लिये काशीकी पैदल यात्रा की। वे वनमार्गसे भूख-प्यासकी चिन्ता किये बिना चले जा रहे थे। उनका प्रभुकी कृपापर दृढ़ विश्वास था। तीसरे दिन वे भूखसे नितान्त परिश्रान्त हो गये, पर शेष शारीरिक शक्तिपर निर्भर होकर वे पुनीत महातीर्थकी ओर बढ़ते जा रहे थे। रास्तेमें एक परिचित ब्राह्मणसे उनकी भेंट हुई। वह उन्हें देखते ही सारी स्थिति समझ गया। निकटस्थ गाँवसे दूध-चिउड़ा लाकर उसने इनसे भोजन करनेका आग्रह किया। वह जानता था कि श्रीगम्भीरनाथने भोजनके सम्बन्धमें रास्तेमें किसीसे कुछ भी नहीं कहा होगा। श्रीगम्भीरनाथने भगवत्कृपा समझकर भोजन कर लिया। काशी पहुँचनेपर उन्होंने कुछ दिनोंतक गङ्गाजीके एक निर्जन तटवर्ती स्थानपर योगाभ्यास आरम्भ किया। वे नित्य गङ्गाजीमें स्नान कर भगवान् विश्वनाथका दर्शन करने जाया करते थे। भीड़से बहुत दूर रहते थे, इसलिये वे भिक्षा माँगने नहीं जाते थे। उनकी त्यागमयी वृत्तिने साधकों और जिज्ञासुओंको खींच लिया। योगी गम्भीरनाथने जन-सम्पर्कको साधनाका बहुत बड़ा विघ्न समझा। उन्होंने काशीजीको छोड़ दिया। वे प्रयाग आ गये। प्रयागमें गङ्गा-यमुनाके पुनीत संगमकी दिव्यतासे सम्प्लावित झूसी-तटकी एक गुफामें रहकर वे तप करने लगे। दैवयोगसे मुकुटनाथ-नामक एक नाथयोगीने उनके भोजन तथा सेवा आदिकी व्यवस्था की। बाबा गम्भीरनाथ रात-दिन अनवरत उस गुफामें योगाभ्यास करने लगे। इस प्रकार प्रयागमें वे तीन सालतक रह गये। उनका आध्यात्मिक स्तर ऊँचा हो गया। उन्होंने महती योगशक्ति प्राप्त की।

साधकको छः अवस्थाओंसे निकलना पड़ता है। वे कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूतकी अवस्थाएँ हैं। एक स्थानपर रहकर साधना करनेवालेको 'कुटीचक' विशेषणसे अलंकृत किया जाता है। 'बहूदक' अनेक स्थानोंमें घूम-घूमकर तप और साधना करनेवालेकी संज्ञा है। हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूतकी अवस्थामें साधक जीवन्मुक्ति, सद्-ज्ञान-प्राप्ति और आत्मसाक्षात्कारसे समृद्ध होता है। योगिराज गम्भीरनाथने अभीतक कुटीचकव्रतका अनुसरण किया था। प्रयागमें तप करनेके बाद उन्होंने 'बहूदक'-जीवन अपनाया। उन्होंने अकेले फिरनेका संकल्प किया। महायोगी गोरखनाथकी उक्ति—'ज्ञानके समान गुरु नहीं मिला, न चित्तके समान चेला मिला और न मनके समान मेल-मिलापवाला मिला; इसलिये गोरख अकेले फिरते हैं'—उनकी स्मृतिमें जाग उठी।

ग्यान सरीषा गुरू न मिलिया
चित्त सरीषा चेला।
मन सरीषा मेलु न मिलिया
तीथैं गोरख फिरै अकेला॥

(गोरखबानी, सबदी १८९)

उन्होंने परिव्राजक-जीवनमें प्रवेश किया । पूरे छः सालतक बाबा गम्भीरनाथ परिव्राजक-जीवनका रसास्वादन करते रहे । वे प्रायः पैदल भ्रमण करते थे । उन्होंने कैलास, मानसरोवर, अमरनाथ, द्वारका, गङ्गासागर तथा रामेश्वर आदि तीर्थोंका दर्शन किया । उन्होंने भगवती नर्मदाकी परिक्रमा चार सालमें पूरी की और अमरकण्टकपर अधिक समयतक रह गये । नर्मदा-परिक्रमाके समय उनके जीवनमें एक विलक्षण घटना घटी थी, जो उनकी अपार योगशक्ति और महती तपस्याकी परिचायिका है । बाबा गम्भीरनाथ नर्मदाकी परिक्रमा कर रहे थे । उनका मन एक तटीय रम्य स्थानमें लग गया । वहाँ एक कुटी थी । महात्मा गम्भीरनाथने उसी कुटीमें निवास किया । पहले दिन उन्हें एक बहुत बड़ा साँप दीख पड़ा । वह उनका दर्शन कर अदृश्य हो गया । दूसरे और तीसरे दिनभी प्रभात-कालमें बाबा गम्भीरनाथने उसको देखा, उन्होंने इस ओर कुछ ध्यान न दिया । वे अपने गम्भीर चिन्तनमें तल्लीन थे । तीसरे दिन कुटीमें रहनेवाला एक ब्रह्मचारी, जो कुछ दिनोंके लिये बाहर था, आ गया । वह उस कुटीमें बारह सालसे निवास करता था । योगिराज गम्भीरनाथके आगमनसे वह बहुत प्रसन्न हुआ । उसने आप-बीती सुनायी कि 'मैं इस कुटीमें बारह सालसे रहता हूँ । इसीके निकट एक बहुत बड़े महात्मा सर्पके वेषमें रहते हैं । उन्हींके दर्शनके लिये मैं ठहरा हूँ ।' महात्मा गम्भीरनाथने सर्प-दर्शनकी बात कही; ब्रह्मचारी आश्चर्यचकित हो गया । उसने कहा कि 'महाराज ! आपका तपोबल स्तुत्य है, जिस कार्यको मैं बारह सालमें भी न कर सका, वह बिना किसी प्रयासके आपने कर दिखाया । आप धन्य हैं कि सर्प-वेषमें रहनेवाले महात्माने तीनों दिन आपपर कृपादृष्टि की ।' महात्मा गम्भीरनाथने नर्मदा-परिक्रमा समाप्त की ।

संवत् १९३७ वि०में योगी गोपालनाथने शिवधाम प्राप्त किया। महात्मा गम्भीरनाथने परिभ्रमण-कालमें इस घटनाको सुना। वे गुरुके प्रति आदर प्रकट करनेके लिये गोरखपुर आये । तत्कालीन महंत श्रीबलभद्रनाथजीके विशेष आग्रहपर वे कुछ दिनोंतक मठमें रह गये । उसके बाद वे बिहार प्रदेशके गया जनपदके कपिलधारा नामक स्थानमें आकर तप करने लगे । गयाकी पहाड़ियोंमें चिरकालसे तपस्वी, योगी और संतजन अपना निवास बनाते आये हैं । गयानगरसे थोड़ी दूरपर अत्यन्त शान्त, रमणीय और निर्जन कपिलधारा स्थानमें योगी गम्भीरनाथने तबतक तप करनेका निश्चय किया, जबतक अवधूत अवस्थाकी प्राप्ति न हो जाय । अक्कू नामके एक व्यक्तिने उनके चरणोंमें श्रद्धा समर्पित की । उनकी भोजन-व्यवस्था तथा सेवा आदिका सहज अधिकार उसे प्राप्त हो गया । महात्मा गम्भीरनाथके पास कौपीन, एक कम्बल और खप्परके सिवा और कुछ भी न था । कुछ दिनोंके बाद नृपतिनाथ नामके एक श्रद्धालु योग-साधकने अक्कूका कार्य हल्का कर दिया । नृपतिनाथने योगी गम्भीरनाथकी सेवामें बड़ी तत्परता दिखायी । उनकी प्रसिद्धि बड़ी तेजीसे बढ़ने लगी । वे सदा शान्तचित्तसे ध्यानस्थ रहते थे । मौन उनकी वाणीका अलंकार था, संकेत उनके भावोंका प्रहरी था, निर्जनतामयी योग-साधना ही उनकी जीवन-सङ्गिनी थी । प्रकृतिकी कमनीय कान्तिसे सम्पन्न कपिलधारा पहाड़ीकी दिव्यता उनकी योगलीलाकी रङ्गभूमि थी । रातमें दूसरी पहाड़ियोंपर तप करनेवाले सिद्ध महापुरुष और योगीजन उनका दर्शन करने तथा सत्सङ्ग प्राप्त करने आया करते थे । गयाके एक धनी पंडा माधवलालने उनके आशीर्वादसे एक गुफाका निर्माण कराया । योगी गम्भीरनाथ उसी गुफामें प्रवेश कर तप करने लगे । दर्शकों और मिलनेवालोंकी भीड़ अपने-आप कम होने लगी । गुफामें कोई दूसरा व्यक्ति प्रवेश नहीं कर सकता था । वे केवल एक पाव दूध नित्य लेते थे । प्रत्येक मंगलवारको थोड़ी देरके लिये वे गुफासे बाहर आकर दर्शकों और भक्तोंको दर्शन देकर तृप्त करते थे । तीन वर्षोंतक उन्होंने यही क्रम रखा । उसके बाद वे प्रत्येक अमावास्या और पूर्णिमाको गुफाके बाहर आने लगे । बारह सालके कठिन योगाभ्यासके बाद उन्होंने इस नियमको भी भङ्ग कर दिया । उसके बाद वे तीन मासतक गुफासे बाहर न आये । श्रद्धालुओंकी विकलता बढ़नेपर उन्होंने दर्शन दिया । इस प्रकार कपिलधारामें उन्होंने 'अवधूत' अवस्था प्राप्त कर ली । उनकी पवित्र उपस्थितिसे उस तपोभूमिमें सत्य, शान्ति, अहिंसा और दिव्यताका साम्राज्य स्थापित हो गया ।

कपिलधारा आश्रममें एक बार रातको कुछ चोर आये । उन्होंने आश्रमपर पत्थरोंके टुकड़े बरसाये । योगिराज एक कम्बल ओढ़कर कुटीके बाहर लेटे हुए थे । पत्थरके एक टुकड़ेसे उन्हें थोड़ी-सी चोट आयी । योगी नृपतिनाथ तथा दूसरे भक्तोंने चोरोंका पीछा करना चाहा । योगिराज गम्भीरनाथने चोरोंसे कहा कि 'साधुओंको तंग नहीं करना चाहिये ।' उन्होंने बड़े प्रेम और मधुरतासे कहा कि 'कुटीका दरवाजा

खुला हुआ है; तुम भीतर जाकर जो कुछ भी आवश्यक समझो, ले लो।' उनके आदेशसे नृपतिनाथने दरवाजा खोल दिया। चोर आश्चर्यचकित हो गये। वे बाबाके चरणोंपर गिर गये और बोले कि 'महाराज! हम गरीब हैं, हमारे परिवारवाले कई दिनोंसे भूखों मर रहे हैं!' बाबाने कहा, 'वत्स! मैं तुम्हारी विवशता समझता हूँ। तुम जब चाहो, कुटीसे आकर भोजन ले जा सकते हो। तुम्हें कोई न रोकेगा।' चोरोंने अपनी आवश्यकताके अनुसार थोड़ा-बहुत सामान ले लिया। बाबाकी चरण-धूलि मस्तकपर चढ़ाकर वे चल पड़े। दूसरी बार आश्रममें आनेपर उनके जीवनमें बहुत बड़ा परिवर्तन देखा गया। वे चोर नहीं, सत्यवादी हो गये। योगिराजकी करुणाने उनकी कृतज्ञताको श्रद्धा और भक्तिमें रूपान्तरित कर दिया। बाबा प्रेम, माधुर्य, अहिंसा और शान्तिके साकार-सजीव विग्रह थे। शान्तिको ही वे बहुत बड़े चमत्कारकी वस्तु स्वीकार करते थे।

परिव्राजक-कालमें महाराणा उदयपुर तथा महाराजा काश्मीर आदिने बड़ी चेष्टा की कि योगिराजकी चरण-धूलि राजप्रासादमें पड़ जाय; पर ऐसा कभी सम्भव नहीं हो सका। बाबाके प्रसिद्ध सेवक माधवलाल पंडाने बड़ा प्रयत्न किया कि एक क्षणके लिये भी बाबा उसके घर चलें; पर बाबा गम्भीरनाथ अपने नियमपर अडिग रहे। एक बार उनका निजी सेवक बहुत बीमार पड़ गया। उसका भाई मुन्नी दौड़ता हुआ बाबाके पास आया; आँखोंमें अश्रु भरकर उसने कहा कि 'महाराज! अक्कूका अन्तिम समय है, उसे जीवन प्रदान कीजिये अथवा चलते समय उसे अपनी चरण-धूलिसे आशीर्वाद दीजिये; वह आपके दर्शनके लिये विकल है।' करुणा-समुद्र परम शान्तिमय बाबा गम्भीरनाथ आसनसे उठ पड़े; वे अक्कूके घर आये। शरीर ठंडा हो रहा था, प्राण निकलनेवाले ही थे कि बाबाका दर्शन करते ही अक्कूकी चेतना लौट आयी; बाबाने उसे प्राण-दान दिया; स्वस्थ होनेपर वह बाबाकी सेवामें पुनः संलग्न हो गया। बाबा गम्भीरनाथकी महिमा अकथनीय है। जिस समय कपिलधारा-आश्रममें योगिराज गम्भीरनाथ तप कर रहे थे, उसी समय महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी आकाशगङ्गा पहाड़ीपर अपने कुछ भक्तोंके साथ साधनामें तल्लीन थे। वे बाबाकी योगशक्तिसे बहुत प्रभावित थे और उनके चरणोंमें अडिग श्रद्धा रखते थे। वे कभी-कभी योगिराजका दर्शन करने कपिल-धारा आया करते थे और प्रायः आधी रातके समय पधारकर दो-एक घंटे उनके सम्पर्कमें रहकर सत्सङ्ग और भजनकी सात्त्विकता और मधुरताका आस्वादन करते थे। महात्मा गम्भीरनाथ आधी रातमें सितार बजाकर भगवान्‌को भजन समर्पित किया करते थे। उनकी संगीत-माधुरी और दिव्य सितार-वादन-कलासे हिंसक जीव-जन्तु दिव्य प्रेमोन्मादमें 'अहिंसक बनकर उनकी चरण-धूलिके संस्पर्शसे अपने-आपको परम तृप्त मानते थे। कभी-कभी कपिलधारा-पहाड़ीपर बाबाके सितार-वादन और भजनसे आकृष्ट होकर महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी आया करते थे। एक दिन रातकी निर्जनतामें बाबा गम्भीरनाथ पहाड़ीपर सितार बजाते हुए घूम रहे थे, भगवान्‌के चरणोंमें हृदयका मधुर संगीत समर्पित कर रहे थे। चारों ओर ज्योत्स्ना फैली हुई थी। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीने शिष्योंसे कहा, 'अहा! कितना मधुर संगीत बाबा गम्भीरनाथ अपने आराध्य देवके चरणोंमें अर्पित कर रहे हैं। बाबा साक्षात् प्रेमरूप हैं, ऐसे योगीका दर्शन भारतवर्षमें इस समय दुर्लभ है। बाबामें सृष्टि, स्थिति और प्रलयकी शक्ति है। वे क्षणमात्रमें संसारका सृजन और संहार कर सकते हैं। उन्होंने प्रेमका माधुर्य इस तपोभूमिके कण-कणमें भर दिया है।'

संवत् १९५०वि०में बाबा गम्भीरनाथ कपिलधारा-आश्रमसे प्रयाग कुम्भमेलामें पधारे हुए थे। उनकी गम्भीर मुद्रा और शान्ति तथा तपकी माधुरीने दर्शकोंका मन सहजमें ही मुग्ध कर लिया। प्रत्येक समय उनके निवास-स्थानपर संतों-साधुओंकी भीड़ लगी रहती थी। अपने शिष्योंके साथ महात्मा विजयकृष्ण उनका दर्शन करने आये थे। महात्मा विजयकृष्णके शिष्य मनोरञ्जन ठाकुरने कुम्भकी एक घटनाका वर्णन किया है, जिससे बाबाकी तपस्या और शान्तिमयी त्याग-वृत्तिका पता चलता है। एक धनी व्यक्तिने योगिराजके हाथसे सौ कम्बलोंका वितरण कराना चाहा। बाबा उस समय गम्भीर चिन्तनमें थे। थोड़ी देरके बाद उन्होंने आँख खोली, अपने सामने कम्बलोंका ढेर देखा। उन्होंने हाथसे वितरण करनेका संकेत किया और क्षणमात्रमें दीन-दुखियों और असहायोंको कम्बल वितरित कर दिये गये। कुम्भसे लोगोंके विशेष आग्रह-पर वे गोरखनाथ-मठके अध्यक्षका उत्तरदायित्व स्वीकार कर गोरखपुर आये और जीवनके अन्तिम क्षणतक उन्होंने अपना कार्य बड़ी सात्त्विकता और पवित्रतासे सम्पादित किया। नाथ-सम्प्रदायके तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ योगीके रूपमें उनकी ख्याति चारों ओर फैल गयी। वे जीवन्मुक्त अवस्थामें पहुँच गये थे। वे साधु-मण्डलीमें सिद्ध पुरुषके रूपमें विख्यात थे। गोरखनाथ-

मठमें आगमनके बाद लोग उन्हें 'बूढ़ा महाराज'के विशेषणसे समलंकृत कर उनके प्रति श्रद्धा और आदर प्रकट करते थे। उनके आगमनसे ऐसा लगता था मानो गोरखनाथकी तपोभूमिमें हठ योग, लययोग और राजयोगने ही मूर्ति धारणकर प्रवेश किया हो।

गोरखपुरमें गोरखनाथ-मठ-निवासकालमें एक बार उन्होंने अद्भुत यौगिक चमत्कार दिखाया था। एक विधवाका लड़का बैरिस्टरीका प्रमाणपत्र प्राप्त करने लंदन गया था। तीन-चार माससे उसके सम्बन्धमें कोई समाचार न पाकर माँकी चिन्ता बढ़ गयी। उसने बाबा गम्भीरनाथकी कृपादृष्टिका दरवाजा खटखटाया। उस समय राजकीय विद्यालयके प्रधानाचार्य रायसाहब अघोरनाथ अपने सहकर्मी अटलविहारी गुप्तके साथ बाबाका दर्शन करने आये थे। विधवाको फूट-फूटकर रोते देख योगिराज गम्भीरनाथ एक कोठरीमें चले गये, दरवाजा बंद कर लिया। बुधवार था। आधे घंटेके बाद उन्होंने बड़ी चिन्तनमयी गम्भीर मुद्रामें कहा कि 'तुम्हारा लड़का स्वस्थ और सुरक्षित है।''वह सोमवारको पहुँच जायगा।''अगले बुधवारको एक नौजवान रायसाहब अघोरनाथकी कोठीपर उनको प्रणाम करने गया। दैवयोगसे अटलविहारी गुप्त भी वहीं उपस्थित थे। रायसाहबने गुप्तसे कहा कि 'ये महाशय उसी विधवाके पुत्र हैं, जो पिछले बुधवारको बाबा (गम्भीरनाथ)के पास गयी थी।' नौजवान रायसाहबकी बातका आशय समझ नहीं सका। रायसाहब उसको साथ लेकर बाबाके पास दर्शन करने गये। अटलविहारी गुप्त भी साथ थे। नौजवानने बाबाके चरणपर सिर रखकर प्रणाम किया। उसने तत्क्षण ही बाबासे पूछा कि 'आप कब आये। मैं बम्बईमें उतरते ही इम्पीरियल मेलमें सवार हुआ, पर आपको मैंने नहीं देखा।' उसने रायसाहबसे कहा कि 'हमारे जहाजको बम्बई पहुँचनेमें एक दिन शेष रह गया था, मेरे कैबिनके सामने बाबाजी खड़े थे। भारतीय साधुको देखकर बातचीत करनेकी उत्सुकतासे मैंने कैबिनके बाहर आकर बाबासे पाँच मिनट बात की। उसके बाद बाबा अदृश्य हो गये। न तो मैंने उनको स्टीमरमें देखा, न रेलगाड़ीमें ही उनका दर्शन हुआ।' अटलविहारी गुप्तके समय पूछनेपर उसने कहा कि 'पिछले बुधवारके शामकी बात है।' समय ठीक वही था, जब बाबाने आधे घंटेके लिये कोठरीका दरवाजा बंद कर लिया था। इस घटनाका विवरण अटलविहारी गुप्त महोदयने अपनी बँगला पुस्तक 'मृत्यु और पुनर्जन्मके बाद'में विस्तारसे दिया है। बाबा गम्भीरनाथको ऊँची-से-ऊँची यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त थीं, पर उनके प्रदर्शनको वे योग-साधनाके क्षेत्रमें बहुत बड़ा विघ्न मानते थे। वे दूसरोंको किसी तरहका उपदेश देनेमें भी अमित संकोच करते थे।

महात्मा गम्भीरनाथ योगमानव थे। उन्होंने अनुभव कर लिया था कि 'यही मन शिव है, यही मन शक्ति और पाँच तत्त्वोंसे निर्मित जीव है। शिव, शक्ति और जीव—सब-के-सब एकाकार हैं। मायाके संयोगसे ही ब्रह्म मनके रूपमें अभिव्यक्त होता है। मनसे ही पञ्चभूतात्मक शरीरकी सृष्टि होती है। मनको उन्मनावस्थामें लीन करनेसे साधक सर्वज्ञ हो जाता है।' बाबा गम्भीरनाथ योगरहस्यके सर्वमान्य मर्मज्ञ थे। उन्होंने आदिनाथ—शिवद्वारा प्रवर्तित तथा गुरु गोरखनाथद्वारा प्रचारित योगकी साधना की। वे मायाके बन्धनसे पूर्ण मुक्त सिद्ध पुरुष थे। गोरखनाथजीने अपनी साधनाके सम्बन्धमें एक स्थलपर कहा है—

'बाहरि न भीतरि, नेड़ा न दूर,
खोजत रहे ब्रह्मा अरु सूर।
सेत फटिक मनि हीरैं बीधा,
इहि परमारथ गोरख सीधा॥'

(गोरखबानी, सबदी १७४)

परमात्मतत्त्व न बाहर है न भीतर है, न निकट है न दूर है। ब्रह्मा और सूर्य उसे खोजते ही रह गये, किंतु उसका रहस्य न पा सके। श्वेत स्फटिकमणिको हीरेने बेध लिया, ब्रह्मका साक्षात्कार कर लिया, इसी परमार्थके लिये मैं (गोरखनाथ)ने साधना सिद्ध की।' उनकी योग-परम्पराका अनुगमन करनेवाले योगिराज गम्भीरनाथने इसी परमार्थ—योगतत्त्वकी सिद्धिके राज्यमें आधिपत्य प्राप्त किया। उन्होंने नाथयोगके सिद्धान्तके अनुसार शिव और शक्तिकी एकात्मताका योगके माध्यमसे अनुभव किया। योगिराज बाबा गम्भीरनाथने सदा कानोंमें कुण्डल और वक्षपर नाद धारण किया। उन्होंने योगस्थ होकर दिव्य परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार किया। वैराग्य उनकी योग-साधनाका प्राण था। वे कहा करते थे कि 'सद्गुरु वह है, जो आत्मानुभूति प्राप्त कर लेता है और दूसरोंको आत्मनिष्ठासे सम्पन्न करता है।' नाम-जपमें उनकी बड़ी निष्ठा थी। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीकी उक्ति है कि 'मुझे भगवन्नाम-निष्ठा बाबा गम्भीर-

नाथकी कृपासे प्राप्त हुई ।' वे ज्ञानी एवं हठयोगी थे । योगिराजकी श्रीमद्भगवद्गीतामें अपूर्व श्रद्धा थी । वे मायातीत, त्रिगुणातीत योगी थे । वे सत्यान्वेषक थे । वे नाम-जप, कीर्तन और भजन आदिके लिये अपने शिष्यों और भक्तोंको विशेष अवसरोंपर प्रोत्साहित किया करते थे । गीताके सम्बन्धमें उनकी उक्ति है कि 'यह सभी युगोंके लिये सम्मान्य है । सत्यके अन्वेषकोंके लिये एक गीता ही बहुत है । यह सार्वजनिक तथा सनातन शास्त्र है ।' भगवच्छरणागतिके सम्बन्धमें उनकी उक्ति थी कि 'अहंता और ममताका परित्याग कर ईश्वरके चरणोंपर समर्पित हो जाना चाहिये । वे योग-क्षेमका वहन करते ही हैं । उनसे केवल सत्य और प्रेमकी ही माँग करनी चाहिये ।' वे भगवन्नाम-साधनापर बड़ा जोर देते थे । उनकी यह घोषणा थी कि 'भगवान्‌के नामसे सब कुछ हो जायगा ।' वे कहा करते थे—'रूप बहुत हैं, स्वरूप एक ही है, सब परमात्मस्वरूप हैं । मुक्ति-प्राप्तिके लिये साधना और अधिकार-की बड़ी आवश्यकता होती है । शिष्यके ही सत्प्रयत्नसे यह सम्भव है, गुरु तो साधना और सिद्धिका मार्ग-दर्शन करा देते हैं ।'

बाबा गम्भीरनाथ सनातनधर्मके अनुरूप आचरण बनानेको बहुत महत्त्वपूर्ण मानते थे । उनकी उक्ति है कि 'सनातनधर्म शाश्वत, विश्वव्यापी, अपौरुषेय और आदि-सत्यसे परिव्याप्त है ।' जब कोई व्यक्ति उनसे उपदेश देनेकी प्रार्थना किया करता था, तब वे बड़ी विनम्रतासे कहा करते थे कि 'मैं वास्तवमें कुछ भी नहीं जानता, मेरे पास कोई उपदेश नहीं है । मैं क्या शिक्षा दे सकता हूँ ।' वे ऐसे अवसर-पर कहा करते थे कि 'सदा सत्य बोलना चाहिये । 'अहं'से नहीं चिपकना चाहिये । दूसरोंको कभी बुरा-भला नहीं कहना चाहिये । समस्त धर्मों और मत-मतान्तरोंका आदर करना चाहिये । भिखारियों, दीन-दुखियों और असहायोंका बड़े प्रेमसे सत्कार करना चाहिये और विचार करना चाहिये कि इस प्रकार हम ईश्वरकी ही पूजा कर रहे हैं ।'

विक्रमीय बीसवीं शताब्दीमें योग-सिद्धिके क्षेत्रमें उनका महत्त्व असाधारण है । उन्होंने नाथ-सम्प्रदायके योग-सिद्धान्तका फिरसे प्राकट्य किया । उनकी विशिष्टता यह थी कि उन्होंने योगके प्रकाशमें सत्य और भगवान्‌का साक्षात्कार किया । समस्त जगत्‌के कार्योंको वे ईश्वरकी लीला समझते थे । वे कहा करते थे कि 'आत्माका विचार करते रहना ही तपस्या है ।' वे सदा योगस्थ रहते थे । वे सद्गुरु थे । उनकी उक्ति है—'जो शिष्यको बन्धनसे मुक्त कर देता है, वही सद्गुरु है ।'

जीवनके अन्तिम दिनोंमें उन्हें मोतियाबिंद हो गया था । वे उसे ठीक करानेके लिये कलकत्ता गये हुए थे । डाक्टर मानरडने उस रोगको ठीक कर दिया । बाबा गम्भीर-नाथको देखकर मानरडने कहा था—'अरे, ये तो साक्षात् ईसाकी ही तरह दीख पड़ते हैं ।'

योगिराजने गोरखपुरमें संवत् १९७५ वि०की चैत्र कृष्ण त्रयोदशीको सवा नौ बजे प्रातः परमधामकी यात्रा की । गोरखनाथ-मन्दिरके संनिकट ही उनका समाधि-मन्दिर है, जो शाश्वत सत्य और चिरन्तन शान्तिका दिव्य प्रतीक है । उसमें उनकी प्रतिमा प्रतिष्ठित है । नित्य नियमपूर्वक प्रतिमाकी पूजा-आरती होती है । शिष्योंको कभी-कभी स्वप्नमें दर्शन देकर वे उनका पथ-प्रदर्शन करते रहते हैं । योगिराज बाबा गम्भीरनाथ योग, ज्ञान, तपस्या और भक्तिके सजीव प्रतीक थे ।

श्रीराधाजीके नेत्र

सागर अञ्जलि पान कियो, कछु काम बड़ो नहिं कुंभज कीन्हो,
जो हरि रूप असीम अवाध, कहै कवि 'भानु' सुसंतन चीन्हो ।
राधिका नागरि रूप उजागरि, तासों अनोखो ही कौशल कीन्हो,
श्याम को रूप अनंत सो सागर, लोचन-गागरिमें भरि लीन्हो ॥

—भानुप्रतापसिंह 'भानु'

प्रार्थना

मेरे अपराधोंको क्षमा कर दो !

मेरे मनमोहन !

आज तुम्हारे सम्मुख मैं अपराधीके रूपमें खड़ा हूँ। अपने दोषोंकी स्मृतिसे मेरी आँखोंमें आँसू छलक आये हैं; लज्जासे मेरा मुख अवनत है; परितापकी ज्वालासे मेरा हृदय दग्ध हो रहा है। सचमुच ही मैं दोषी हूँ—तुम्हारा ही दोषी हूँ मैं! तुम्हारे अगणित अपराध किये हैं मैंने इस अपने जीवनमें। और किसीके प्रति नहीं—केवल तुम्हारे प्रति घोर अत्याचार हुआ है मेरेद्वारा। तुम मेरे अपराधोंको क्षमा कर दो, मनमोहन ! तुम मेरे दुर्व्यवहारोंको विस्मृत कर दो।

मेरे प्यारे मधुमय सखा ! तुम मुझे किसी भी परिस्थितिमें नहीं भूले। किसी क्षण भी तुमने मेरा त्याग नहीं किया। सदैव तुम मेरे साथ रहे, मेरे अन्तःकरणमें ही विराजित रहे। विभिन्न रूपोंमें—नव-नव वेषोंमें नित्य नया आकर्षण लिये तुम मुझे सुखी बनानेको सचेष्ट रहे। मैं स्वयं ही तुम्हारी उस प्रेमभरी मङ्गल क्रियामें बाधक बनता रहा। तुम्हारी रुचिके, तुम्हारे इङ्गितके विपरीत ही मेरी गति रही। इसीलिये मैं दुःखी रहा, अधिकाधिक दुःखी होता ही गया। तुम चाहकर भी मुझे सुखी नहीं कर सके।

मैं सुख ढूँढ़ने चला विषयोंके बीहड़, प्रवञ्चनाभरे, घोर असिपत्र-वनमें, जहाँ सुखका लेश भी नहीं था। सुखके निधान तुम मेरे निकट, अत्यन्त निकट—मेरे अन्तःकरणमें ही विराजित थे, यह जानकर भी मैं अनभिज्ञ बना रहा। तुमने बारंबार अपनी उपस्थिति जतलायी, सुखकी पहचान बतलायी; पर मैं तुम्हारे संकेतोंकी अवहेलना करके विषय-वनमें ही सुख ढूँढने-हेतु अधिकाधिक प्रविष्ट होता गया। मेरा अङ्ग-अङ्ग काँटोंसे बिंधकर क्षत-विक्षत हो गया, तथापि मैंने विषयोंमें सुखकी मिथ्या आशाका त्याग नहीं किया। हृदयमें नित्य सुख-सागर सँजोये हुए भी मैं दुःखी रहा, नित्य सौभाग्य प्राप्त करके भी अभागा रहा। मेरे दुर्भाग्यकी कोई सीमा नहीं !

कामनाओंके नागपाशमें बद्ध होनेमें ही मुझे सुखकी प्रतीति हुई, जब कि सुख तो रहता है कामना-गन्ध-लेश-विवर्जित प्रीतिमें। कामनाओंमें तो सुखका अस्तित्व ही नहीं है। क्षुद्र 'मैं'-'मेरे'के चक्रव्यूहमें दिग्भ्रान्त होकर अनुकूलताके अन्वेषणके लिये भटकते-भटकते ही मेरे जीवनका अधिकांश भाग समाप्त हो गया। तुमने मुझे अहर्निश परम सुखरूपा प्रीतिकी शिक्षा दी—स्वयं निरन्तर मुझसे प्रीति करके प्रीतिका निदर्शन किया; तथापि मैं कामनाओंकी ज्वालामें ही जलता रहा, तड़पता रहा।

जब-जब मेरी दृष्टि अन्तर्मुखी हुई, मैंने सदैव तुम्हें अनन्त सुखोंकी सामग्री सँजोये अपने अन्तःकरणमें ही विराजित पाया। मेरे सुख-संयोजनके लिये तुम्हारे मुखपर एक अकथनीय उत्सुकता, अत्यन्त रुचिपूर्ण तत्परता तथा अपूर्व सौहार्दका भाव सदैव वर्तमान रहता। सदैव अनुपम प्रीतिसे परिपूर्ण तुम मेरे मुखसे कुछ भी सुननेको लालायित रहते, मेरे कुछ चाहनेपर अपनी सम्पूर्ण प्रीति मुझपर बरसानेको प्रस्तुत रहते। मेरे प्रति तुम्हारा प्यार, तुम्हारी लगन, तुम्हारा भाव अनुपमेय है। सदा अपनी धुनमें मस्त, तुम मेरी उपेक्षा, उदासीनता, हृदयहीनता, रुक्षता, प्रेमशून्य कटुता आदिको निरन्तर सहते हुए भी मुझे सुखी करनेकी चेष्टामें संलग्न रहे।

तुम्हारे-सरीखे मधुर प्रेमीको पाकर भी मैं मिथ्या अहंकार-मदमें चूर रहा। तुम्हारे अगणित कृपा-उपहारोंको मैं नगण्य मानता रहा। तुम्हारे अनुपम प्रेमदानको महत्त्वहीन समझता रहा; कभी मैंने तुम्हारी कृपाका आभार नहीं माना, कभी तुम्हारे प्रेमका सत्कार नहीं किया मैंने। कभी हठात् मुझे तुम्हारी

स्मृति हो भी आयी, तब भी मैंने तुम्हें याद नहीं किया; कभी हठात् मेरी दृष्टि तुम्हारी ओर उन्मुख हो भी गयी, तब भी मैंने तुम्हें अनदेखा कर दिया; कभी हठात् तुम्हारी कोमल प्यारभरी मनुहार मेरे अन्त-हृदयमें ध्वनित भी हो उठी, तब भी मैंने उसे अनसुना कर दिया। सचमुच मेरे कुकृत्योंकी कोई गणना नहीं, मेरे दुर्व्यवहारोंकी कोई इति नहीं, मेरी कृतघ्नताकी कोई सीमा नहीं।

मेरे मनमोहन! अब तो तुम मेरे इस परिताप-कथनको ही अपनी अभ्यर्थना मान लो; मेरे अश्रु-सलिलको ही अपनी पूजा-सामग्री समझ लो और प्रसन्न होकर मुझे यह वरदान दे दो कि अब यह शेष जीवन तुम्हारी ही रुचिके अनुसार ढल जाय—मेरी अवशिष्ट साँसोंमें केवल तुम्हारा ही पवित्र प्यार प्रवाहित होता रहे।

मेरे अच्छे सखा! मेरी यह अभिलाषा तुम पूर्ण कर दो।

—तुम्हारा ही अपना एक

एक शिक्षार्थीके लिये गांधीजीका आदेश

प्रसिद्ध देशभक्त श्रीजमनालालजी बजाजके सुपुत्र स्व० श्रीकमलनयन युवावस्थामें जब अध्ययनके लिये सीलोन जा रहे थे, तब वे गांधीजीके पास उनका आशीर्वाद लेने गये। उस दिन गांधीजीका मौन-दिवस था। इसलिये उन्होंने वाणीसे कुछ न कहकर कागजपर कुछ बातें लिख दीं। युवक श्रीकमलनयन बापूका लिखित आदेश पाकर बड़े प्रसन्न हुए। वे महादेवभाईका आशीर्वाद लेने गये। जब महादेवभाईने बापूका लिखित आदेश पढ़ा, तब वे बोले—

'सचमुच तुम अपने साथ एक बड़ा खजाना ले जा रहे हो। बापूने संक्षेपमें सभी कुछ कह दिया है। तुम बेशक इसपर गम्भीरतासे विचार करोगे ही। यदि तुम अपने भविष्यजीवनके मार्ग-दर्शनके लिये सिर्फ इसे याद रखोगे तो फिर तुमको और किसी बातकी चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं रहेगी।'

बापूका वह लिखित आदेश सभीके लिये बड़ा उपयोगी है। अतएव उसका हिंदी-अनुवाद नीचे प्रकाशित किया जा रहा है—

१–कम बोलना।

२–सबकी सुनना, पर जो ठीक हो, उसे करना।

३–हर मिनटका हिसाब रखना और जब-जब जो करनेका निश्चय हो, उसे उसी समय करना।

४–गरीबके समान रहना; धनका अभिमान कदापि न करना।

५–पाई-पाईका हिसाब रखना।

६–ध्यानपूर्वक पढ़ाई करना।

७–कसरत करना।

८–मिताहारी रहना।

९–रोजनामचा लिखना।

१०–इसका ध्यान रखना कि बुद्धिकी तीव्रताकी अपेक्षा हृदयका बल करोड़ों-गुना बड़ा है। इसे समझनेके लिये गीता और तुलसीदासका (मानसका) मनन आवश्यक है। भजनावली (आश्रम-भजनावली) रोज पढ़ना।

११–तुम्हारी सगाई हो गयी है, इससे तुम कीलमें बँध गये हो। अन्य स्त्रीके प्रति मन न जाने देना।

१२–प्रतिसप्ताह मुझे पत्र लिखकर अपने कामका हिसाब दिया करना।

हमारी कुछ मान्यताएँ—विज्ञानकी कसौटीपर

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

इस वैज्ञानिक युगमें धर्म भी, आस्था भी, केवल उपदेश या मन्त्रणाकी वस्तु नहीं रह गये हैं। प्रत्येक धार्मिक बातको जबतक विज्ञानके सहारे न समझ लिया जाय, कोई उसे माननेको तैयार नहीं है।

प्राचीन भारतीय ग्रन्थोंके इस कथनकी काफी खिल्ली उड़ायी जाती थी कि पुराने जमानेमें सींगवाले मनुष्य होते थे। उनको राक्षस कहते थे। अब वही चीज प्रमाणित हो जानेसे शिक्षित समाजमें बड़ी हलचल मच गयी है।

दक्षिणी-पूर्वी फ्रांसमें नाइस नगरसे ३० मील उत्तर-पूरबमें ६००० फुट ऊँचा आल्प्स पर्वत है। उसपर केवल भेड़-बकरी चरानेवाले या पहाड़पर घूमनेवाले साहसी लोग जाते थे। वहाँ, उतने ऊँचे पर्वतपर विचित्र प्रतीकात्मक खुदाई कभी-कभी किसी पर्यटकको मिल जाती थी। पर किसीने उस ओर ध्यान नहीं दिया। अब हेनरी दि लमलेके अथक परिश्रमसे इन खुदी हुई चीजोंका अध्ययन होने लगा है और यह निश्चित हो गया है कि ईसासे १८०० या १५०० वर्ष पूर्व, अर्थात् आजसे लगभग ३५०० वर्ष पूर्व एक अनार्य जाति वहाँ रहती थी, जिनके पास बड़े-बड़े पत्थरके हथौड़े-से अस्त्र थे और इन हथौड़ोंमें अंग्रेजी अक्षर 'T' की तरहकी मुठिया लगी होती थी। इन लोगोंके चित्र जो दीवारपर मिले हैं, उनमें सिरपर सींग है। अन्य कई चित्रोंसे पता चलता है कि ये 'प्रतीकात्मक' भाषाका उपयोग करते थे तथा इनको कटारीका भी उपयोग ज्ञात था। वही बड़ी कटारी इनका अस्त्र था। राक्षसोंके हमारे पौराणिक वर्णनसे इनका वर्णन बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। क्या ये 'पाताललोकवासी' राक्षस नहीं हो सकते ? पौराणिक वर्णन कोरी कल्पना नहीं है।

धर्म-परिवर्तन

पैतृक धर्मसे विपरीत किसी धर्ममें दीक्षा लेनेके लिये 'शुद्धि' तथा 'दीक्षा'की क्रिया नितान्त आवश्यक है, यह सनातनी हिंदुओंका विश्वास है। केवल यह कह देनेसे 'मैं हिंदू होना चाहता हूँ', काम नहीं चलेगा। हमारी बात मूर्खतामें शामिल कर ली गयी थी। आज इज़रायलके समृद्ध देशमें बहुतसे लोग जाकर बस रहे हैं। सभी अपनेको 'यहूदी' कहनेके लिये तैयार हैं। पर वहाँकी सरकार तथा धर्मगुरु श्रीयूसुफ तथा यहूदी-सम्प्रदायके मठाधीश गुरेनने बहुत तर्क-वितर्कके साथ फतवा दिया है कि 'बिना धार्मिक दीक्षा लिये—पवित्र नदीमें स्नान कर, गुरुके सामने धर्म-परिवर्तनकी क्रिया किये, चाहे पुरुष हो या स्त्री, यहूदी नहीं माना जा सकता।' इस निर्णयका स्वागत हो रहा है तथा इस निर्णयके विरोधीको 'जड तथा दकियानूसी' कहकर उनकी भर्त्सना की जा रही है।

बस, इतना ही

भारतीय दर्शन वासनाकी तृप्ति, विलास तथा भोगसे केवल अशान्ति ही प्राप्त होनेकी चेतावनी देता है। भारतीय युवक इस पुरानी 'दकियानूसी' भावनाकी खिल्ली उड़ाता है। आज, संयुक्त-राज्य अमेरिका-जैसे विलासी, भोगी तथा सम्पन्न देशमें 'पिपिन' नामक नाट्यमय नाटक जिस मञ्चसे खेला जाता है, वहाँ भीड़ उमड़ पड़ती है। घटना सन् ७८० की है, जब फ्रेंचनरेश शार्लमेन चारों ओर विजयपताका फहराता हुआ साम्राज्यकी रचना कर रहा था। उसका लड़का 'पिपिन' (वास्तविक नाम पेपिन) 'सम्पूर्ण जीवन, 'पूर्णतः सुखी जीवन' की तलाशमें निकल पड़ता है। वह सेनामें भर्ती होकर खूब मार-काट करता है, पर उसके चित्तको शान्ति नहीं मिलती। तब वह भोग-विलासमें पड़ जाता है। उसमें भी उसे शान्ति नहीं मिलती। उसे बतलाया जाता है कि गृहस्थ-जीवनमें शान्ति मिलेगी, पर उसे वहाँ भी कुछ न मिला। उसने एक धनी विधवासे विवाह किया, पर चित्तको 'सम्पूर्ण सुख' नहीं मिला। अन्ततोगत्वा उसने अपने पिताके विरुद्ध ही विद्रोह कर दिया, पर उसका चित्त शान्त न रहा। अन्तमें वह अपनेसे प्रश्न करता है—'क्या इस जीवनसे, बस, इतना ही मिलता है ?' 'पिपिन' को अन्तमें ज्ञान होता है कि सांसारिक भोग-विलास अशान्तिको ही अधिक जगाते हैं। शान्ति उनसे बहुत दूर है।

भर्तृहरि आदिकी कथामें विश्वास न रखनेवाले 'पढ़े-लिखे' भारतीय सम्राट् शार्लमेनके पुत्रकी कहानीसे शायद अधिक प्रभावित हो सकें। हमको विदेशी बात अधिक समझमें आती है। जब हमारे कवि तथा साहित्यकार कहते हैं कि पश्चिमकी वर्त्तमान सभ्यता बहुत ही उच्छृङ्खल, घातक तथा हानिकारक है, तब उनकी बात अनसुनी तथा मूर्खतापूर्ण कहकर तिरस्कृत कर दी जाती है। अभी नवम्बर, १९७२के दूसरे सप्ताहमें एजरा पाउंड नामक पश्चिममें अंग्रेजी भाषाके सबसे बड़े कविकी ८७ वर्षकी उम्रमें मृत्यु हुई है। उनकी मृत्युके बाद उनकी जो कविताएँ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझी गयी हैं, उनमें एक कविता है, जिसमें आधुनिक सभ्यताको गंदी, भद्दी, भ्रमात्मक, थोथी तथा जंजाल कहा गया है। एजरा पाउंडको अपनी कविता-के लिये ७ लाख रुपयेका नोबुल पुरस्कार मिला था। आजके युगको 'वैज्ञानिक युग' नहीं, बल्कि 'जादूगरीका युग' कहा है प्रसिद्ध वैज्ञानिक स्टेनिसलाव ऐंड्रेस्कीने। उन्होंने इसी शीर्षकसे एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक भी लिखी है।

हिंदू-धर्मका उपदेश है कि 'बिना भगवान्का ध्यान किये, पूजा किये अन्न मत ग्रहण करो।' हिंदू-युवक-युवतियाँ इसे दकियानूसी विचार कहते हैं। उनका कहना है कि 'भूखे भजन न होइ गोपाला।' अभी संयुक्तराज्य अमेरिकामें एक विवाद छिड़ गया था। वहाँ ४५० ऐसे 'मिशन' हैं, जो समाजमें 'पतित तथा भ्रष्ट' लोगोंका उद्धार कर उन्हें सन्मार्गपर लाते हैं। उन्हें अपने आश्रमोंमें रखकर उनका जीवन सुधारते हैं। इन आश्रमोंकी स्थापनाकी शताब्दी मनायी गयी है। इस अवसरपर इन आश्रमोंके विरुद्ध यह लाञ्छन लगाया गया है कि ये 'बिना हरेक आश्रमवासीसे ईश-प्रार्थना कराये उनको भोजन नहीं देते।' 'जेरी डुन' नामक पादरीने इसपर उत्तर दिया है—'ईसा-मसीह रोज ५००० व्यक्तियोंको उपदेश देते थे। पहले उनसे प्रार्थना कराते थे। फिर उनको भोजन करने देते थे। हम मानते हैं कि मूर्खोंको भोजन मिलना चाहिये। पर बिना भगवान्का स्मरण किये, बिना उस प्रभुका ध्यान किये, जो हमें अन्न दे रहा है, भोजन करना प्रभुके प्रति अकृतज्ञता है। प्रार्थना अनिवार्य है। सबको करनी पड़ेगी।'

मनोबल

भारतीय शास्त्र पुकार-पुकारकर मनोबलकी बात कहते हैं। मनीषी तथा तपस्वी दूसरोंके मनकी बात जान जाते हैं और कह देते हैं कि 'तुम अमुक बात सोच रहे थे।' पश्चिमीय लोग इसे 'भारतीय कल्पना' तथा 'अंधाधुन्धीका तमाशा' कहते थे।

सन् १८८२में लंदनमें एक संस्था कायम हुई थी, मनोविज्ञानकी खोजके लिये। ऐसी ही एक संस्था संयुक्तराज्य, अमेरिकामें कायम हुई थी, सन् १८८५में। क्रमशः ९० तथा ८० वर्षतक लगातार खोज करनेके बाद इन दोनों संस्थाओंने भारतीय कल्पनाओंको सत्य स्वीकार कर लिया है।

भारतीय मत है कि फूल-पत्तेमें भी प्राण हैं। उन्हें भी सुख, दुःख, प्रेमका अनुभव होता है। भारतीय वैज्ञानिक डॉ० बोसने इसे पैंतालीस वर्ष पूर्व सिद्ध भी कर दिया था। हमारा धर्म कहता है कि 'रात्रिमें फूल-पत्ती मत तोड़ो। पौधोंको कष्ट होता है।' कृषि-वैज्ञानिक लूथर बरबैंकने अभी अपनी शोधके द्वारा सिद्ध कर दिया है कि 'केवल पौधे-वृक्षोंसे प्रेम करके, उनके प्रति अपने मनमें प्रेमकी सच्ची धारणाकी अभिव्यक्ति करके उनसे न केवल दुगुना फल-फूल प्राप्त किया गया है, बल्कि ८०० प्रकारके नये फूल तथा फल उन्हींसे उत्पन्न किये जा सके हैं।'

दूसरेके मनकी हजारों कोसपर बैठा व्यक्ति कैसे जान सकता है? फरवरी, १९७१ में अमेरिकन अन्तरिक्ष-यान अपोलो-१४ जब चन्द्रमाकी ओर उड़ा था, तब उसके एक चालक मिचेलने पृथ्वीके अपने मित्रोंसे कहा कि वे उस निश्चित समयमें जो मिचेलके विश्रामका समय रहेगा, पृथ्वीपर बैठे-बैठे उससे कुछ बात करें और वह उतनी दूरीसे उनकी बातको ग्रहण करेगा। इस प्रकार मिचेलने २०० 'वार्त्ताएँ' कीं। वह तपस्वी तो था नहीं, फिर भी उसने अपने मनपर जोर लगाया, चित्तको एकाग्र किया और २०० बातोंमेंसे ४० बात उसने सही-सही अपने मनमें सुन लीं। विज्ञानने मान लिया कि लाखों मीलकी दूरीसे मनसे मनकी बात हो सकती है।

प्रेतात्मासे बात

प्रेतात्माकी सत्ता है। उससे सम्पर्क स्थापित हो सकता है। मनोबल चाहिये। आत्मशक्ति चाहिये। इस सम्बन्धमें भारतमें ही नहीं, विदेशोंमें अनगिनत प्रमाण मिल चुके हैं।

प्रकाशित हो चुके हैं । किंतु, उपर्युल्लिखित मनोवैज्ञानिक समितियोंने इसे स्वीकार नहीं किया था । अब उन्होंने इसे स्वीकार किया है ।

१९वीं शताब्दीमें एक श्रीमती पाइपर थीं । ३० वर्षतक वे प्रेतात्माओंसे बातें करती रहीं । उस समय एक घटनाने सबको अचंभेमें डाल दिया था । जूनोटका लड़का बेनी एक वर्ष पहले मर चुका था । जूनोट अपने प्रिय पुत्रसे सम्पर्क चाहता था । श्रीमती पाइपरने उस लड़केसे सम्पर्क ही नहीं स्थापित किया, उसका एक काम भी निपटा दिया । उस लड़केका प्रिय कुत्ता था 'रौंडर' । लड़केके मरनेके बाद घरका साईस इरविंग कुत्तेको लेकर चला गया । कुछ दिनों बाद इरविंग भी मर गया । बेनीको चिन्ता थी कि कुत्ता कहाँ है ? उसने श्रीमती पाइपरसे कहा कि 'इरविंगकी प्रेतात्मासे पता लगाकर उन्हें सूचित करें कि कुत्ता कहाँ है ?' इरविंगने श्रीमती पाइपरको बतलाया कि ''रौंडर' जॉन वेल्श नामक व्यक्तिके पास है ।' पता लगानेपर बात सही निकली ।

किंतु, बिना वैज्ञानिक प्रयोगशालामें जाँच किये, वैज्ञानिक कुछ माननेको तैयार नहीं है । डॉ० जॉन कूवरने १९१७में वैज्ञानिक प्रयोग शुरू किया । १९१९ में डॉ० एच्० ब्रुगमानने प्रयोग प्रारम्भ किया । जे० बी० राइन और कुमारी लुइसा वेकेस्सरने १९२६में इस विषयकी तहतक पहुँचनेके लिये स्वयं शादी कर ली और दोनों पति-पत्नी इसी काममें जुट गये । सन् १९६५में डा० राइनने अपनी निजी प्रयोगशाला खोल ली है और अब केवल उनके मनोबलसे प्रयोगशालाकी बिजलीकी बत्तियाँ भी जल उठती हैं । इसी प्रयोगशालामें प्रेतात्मासे सम्पर्क भी सिद्ध हो चुका है ।

प्रलयकी प्रतीक्षा

'एक दिन प्रलय होगा—वर्तमान भूखण्ड नष्ट हो जायगा तथा हजारों वर्षतक ऐसा ही रहेगा', यह हमारा शास्त्र कहता है; अन्य धर्मवाले भी किसी-न-किसी रूपमें इसे मानते हैं; पर नये पढ़े-लिखे लोग इसे कोरी कल्पना ही कहा करते हैं । किंतु अब विज्ञान इस कल्पनाको सत्य प्रमाणित कर रहा है । मियामी विश्वविद्यालयके वैज्ञानिकोंने, विशेषकर भूगर्भ-शास्त्र-पंडित सीजारे एमिलियानीने यह सिद्ध किया है कि 'पिछले ४ लाख वर्ष पूर्व ८ युग ऐसे थे, जिनमें घोर शीत काल था, ७ युग ऐसे थे, जब घोर उष्णता थी, भयंकर गर्मी थी और दोनों ऐसे युगोंमें कोई भी जीव-जन्तु जीवित नहीं था । लाखों वर्ष पुराने ऐसे अस्थि-अवशेष प्राप्त हुए हैं (समुद्रके गर्भसे), जो शीतलहरीमें नष्ट हो गये थे । ये प्राणी नष्ट होकर नये भूखण्ड, नयी पृथ्वीका रूप धारण कर लेते हैं और फिर इनके अवशेषपर नयी सृष्टि खड़ी होती है ।'

प्रत्येक शीत या उष्णलहरी लगभग १,००,००० वर्ष तक रहती है और वह युग प्रलयका युग होता है, यह मत आजके विज्ञानका है । पर दो वैज्ञानिक गोपेस्ता बोलिन तथा डेविड इरेक्सनका मत है कि 'शीतलहरी १०,०००से २०, ००० वर्षतक रहती है और इतने ही समयतक उष्ण लहरी भी रहती है । इन दोनों युगोंके बीचके युगमें ही फिरसे जीव-जन्तु-प्राणी पनपते हैं, पैदा होते हैं और दूसरी लहरी आनेतक जीवित रहते हैं ।'

वैज्ञानिकोंके अनुसार वर्तमान सृष्टिका यह युग, जिसमें प्राणी-जगत् पनपा है तथा जीवित है, १२,००० वर्षसे है । अब लक्षण पैदा हो गये हैं कि यह युग समाप्त होनेवाला है और प्रलय होनेवाला है । किंतु कितने समयमें प्रलय होगा, यह कहना कठिन है । वैज्ञानिक एमिलियानीका अनुमान है कि २—३ हजार वर्षतक ही यह पृथ्वी चलेगी और इसके बाद शीतलहरीसे नष्ट हो जायगी । पर उस समय पृथ्वी किस रूपमें रह जायगी, यह कहना कठिन है । विज्ञान अभी-तक इसकी थाह नहीं लगा पाया है । पर उनकी यह राय अब निर्विवाद समझी जाती है कि प्रलय होता है, प्राणी नष्ट होते हैं, नवीन सृष्टिका आगमन होता है ।

उष्णलहरी तभी आती है, जब 'अनेक सूर्य' बहुत निकट आ जाते हैं । हमारा शास्त्र १२ आदित्योंकी बात कर चुका है । आज विज्ञानने इन १२ आदित्योंकी वास्तविकताको स्वीकार कर लिया है ।

इस लेखका तात्पर्य आजके उन नये पढ़े-लिखे लोगोंका ध्यान आकृष्ट करता है, जो प्राचीन भारतकी हरेक बातको 'मूर्खतापूर्ण' तथा दकियानूसी कहकर उसका मजाक उड़ाते हैं । धीरे-धीरे हमारी सभी प्राचीन बातोंकी सत्यता आधुनिक विज्ञानसे सिद्ध हो जायगी ।

श्रीराधा-कृष्ण-प्रेम-माधुरी

श्रीराधा-कृष्ण-प्रेम-समुद्रकी तरंगें बड़ी ही गूढ़ एवं विलक्षण हैं। श्रीकृष्ण प्रेमास्पद हैं तथा श्रीराधा प्रेमिका; पर साथ ही श्रीकृष्ण राधाको अपनी प्रेमास्पदा मानते हैं और अपनेको प्रेमीके रूपमें अनुभव करते हैं। यही भाव श्रीराधाका श्रीकृष्णके प्रति है। नीचे परमपूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा रचित दो पद अर्थसहित दिये जा रहे हैं, जिनमें श्रीराधा अपनेको अत्यन्त दीना और श्रीकृष्णको प्रेमके धनीरूपमें अनुभव करके अपना प्रेम निवेदन करती हैं। श्रीराधाके प्रेमोद्गार सुनकर श्रीकृष्ण उनके उत्तरस्वरूप अपने प्रेमोद्गार श्रीराधाके प्रति प्रकट करते हैं, जिसमें वे श्रीराधाको प्रेमकी स्वामिनी और अपनेको प्रेमका कंगाल स्वीकार करते हैं। इस प्रकार श्रीराधा-कृष्णके पारस्परिक प्रेमालापमें प्रेमिगत दैन्य और प्रेमास्पदकी महत्ताका एक विलक्षण रूप दृष्टिगोचर होता है, जो बड़ा ही मधुर है।

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग आसावरी—तीनताल)

अनोखौ प्रेम तुम्हारौ स्याम !
बिनु कारन तुम नेह बढ़ायौ, सहज सुभाव बिबस अभिराम ॥
स्वारथ-भर्‌यौ हुतौ हिय मेरौ, छूँछौ सदा प्रेम के नाम।
काम-कलुष-पूरित, नित कारौ, तामें कियौ आय बिस्राम ॥
नहीं प्रवेस प्रेम-चटसारैं, नहीं ककहरा सौं कछु काम।
दिव्य प्रीति-रस मोय पियायौ, अपने-आप आय रसधाम ॥
छकी, प्रेम-रस छलक्यौ पावन, मधुर भयौ जीवन सुखधाम।
तुम्हरे सुरभित गुन-सुमननि के तुम ही नित्य सुभग आराम ॥

'श्यामसुन्दर ! तुम्हारी प्रीति विलक्षण है। तुमने अपने सहज सुन्दर स्वभावके वशीभूत होकर ही बिना किसी हेतुके ही मुझसे स्नेह बढ़ाया। मेरा हृदय तो स्वार्थपूर्ण था, प्रेमके नाम सदासे ही शुष्क था। कामकी कालिखसे पूर्ण, नित्य ही काला था। उसमें आकर तुम बस गये। मैंने तो प्रेमकी पाठशालामें प्रवेश भी नहीं पाया, कभी प्रेमका ककहरा पढ़नेका भी कुछ काम नहीं पड़ा। ऐसी मुझको रसके धाम तुमने स्वयं आकर अलौकिक प्रेमका रस पिलाया। मैं तृप्त हो गयी, पवित्र प्रेमरस छलक उठा। मेरा जीवन मधुर, सुखधाम बन गया। तुम्हारे सुगन्धपूर्ण गुणरूपी पुष्पोंके तुम स्वयं ही नित्य सुन्दर उपवन हो।'

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(दोहा)

विषय-कामना, भोग-रति, इन्द्रिय-सुखका चाव।
नहीं तुम्हारे हृदयमें ये तीनों दुर्भाव ॥
इह-परके सुख-भोगसे तुमको सहज विराग।
मेरे सुखमें ही सदा पूर्ण नित्य अनुराग ॥
छोड़ न सकता इसीसे प्रिये ! तुम्हारा संग।
अनुपम रस मिलता मुझे मधुर नित्य नव रंग ॥
रहता प्यारी ! सदा मैं बसा तुम्हारे पास।
क्षण भर भी हटता नहीं, करता नित्य निवास ॥

हर स्थितिमें, हर समयमें शुचि आनन्द निधान।
लेता प्रेमानन्द-रस स्वयं विना व्यवधान॥
देख-देख तुम रीझतीं, करतीं मधु-रस-दान।
तुम ही मेरी हो परम शुचितम सुखकी खान॥
विका तुम्हारे हाथ मैं, इन भावोंके मोल।
तो भी ऋण न चुका सका, कैसे तुले अतोल॥

'हे प्रियतमे राधे! तुम्हारे हृदयमें विषय-कामना, भोगोंके प्रति आसक्ति तथा इन्द्रियजन्य सुखोंकी लालसा—ये तीनों दुर्भाव सर्वथा नहीं हैं। तुम्हें इस लोक तथा परलोकके सुखभोगोंसे स्वाभाविक ही विरक्ति है। सदा मेरे सुखमें ही पूर्ण तथा नित्य अनुराग है। प्रियतमे! इसी कारण मैं तुम्हारा सङ्ग-त्याग नहीं कर सकता कि मुझे उससे अनुपमेय रसकी प्राप्ति होती है, नित्य मधुर नया रंग मिलता है। हे प्रियतमे! मैं सदा तुम्हारे निकट ही बसा रहता हूँ। क्षणभरके लिये भी हटता नहीं, नित्य निवास करता रहता हूँ। हर स्थितिमें, हर कालमें, पवित्र आनन्दनिधान स्वरूपमें मैं स्वयं बिना किसी अन्तरायके तुम्हारे प्रेमके आनन्द-रसका आस्वादन करता रहता हूँ। तुम मुझे देख-देखकर रीझती रहती हो, मुझे मधुर रसका दान करती रहती हो। मेरे परम शुचितम सुखकी खान तुम्हीं हो। मैं तुम्हारे हाथों इन्हीं भावोंके मूल्यमें बिक गया हूँ, तथापि तुम्हारा ऋण चुका नहीं पाया हूँ। उस अमाप वस्तुका माप कैसे हो सकता है।'

गोपी-विरह

एहि मुरारे कुञ्जविहारे एहि प्रणतजनवन्धो।
हे माधव मधुमथन वरेण्य केशव करुणासिन्धो॥
रासनिकुञ्जे गुञ्जति नियतं भ्रमरशतं किल कान्त, एहि निभृतपथपान्थ।
त्वामिह याचे दर्शनदानं हे मधुसूदन शान्त॥ १॥

शून्यं कुसुमासनमिह कुञ्जे शून्यः केलिकदम्बः, दीनः केकिकदम्बः।
मृदुकलनादं किल सविषादं रोदिति यमुनास्वम्भः॥ २॥

नवनीरजधरश्यामलसुन्दर चन्द्रकुसुमरुचिवेश, गोपीगणहृदयेश।
गोवर्द्धनधर वृन्दावनचर वंशीधर परमेश॥ ३॥

राधारञ्जन कंसनिषूदन प्रणतिस्तावकचरणे, निखिलनिराश्रयशरणे।
एहि जनार्दन पीताम्बरधर कुञ्जे मन्थरपवने॥ ४॥

'हे मुरारे! हे प्रणतजनोंके बन्धु! विहार-कुञ्जमें आइये, आइये। हे माधव! हे मधुमथन! हे पूजनीय! हे केशव! हे करुणासिन्धो! पधारिये। हे निभृतपथके पथिक! हे नाथ! रासनिकुञ्जमें सैकड़ों भ्रमर गूँज रहे हैं, पधारिये। हे शान्तिमय मधुसूदन! आपके दर्शनदानकी हम याचना करती हैं। हे नाथ! आपके इस क्रीडास्थल-कुञ्जमें बिछा हुआ यह कुसुमासन और यह लीला-कदम्ब—सब आपके बिना सूना प्रतीत हो रहा है; मयूर आदि पक्षीगण दीन हो रहे हैं, मृदु कलरव करता हुआ श्रीयमुनाजीका निर्मल जल भी आपके वियोगके कारण शोकके साथ रोता-सा जान पड़ता है। हे नवीन कमल धारण करनेवाले! हे मेघकी-सी श्यामल सुन्दरतावाले! हे मोरपंख और पुष्पोंसे सुशोभित वेषधारी गोपीजनोंके हृदयेश! हे गोवर्धनधारी! वृन्दावनविहारी! मुरलीधर! हे प्रभो! पधारिये। हे राधिकाजीको प्रसन्न करनेवाले! कंसको मारनेवाले! सभी निराश्रयोंको आश्रय देनेवाले! आपके चरणोंमें हम प्रणाम कर रहे हैं; हे जनार्दन! पीताम्बरधारी! हे प्रभो! इस मन्द-मन्द वायुवाले कुञ्जमें पधारिये! पधारिये!! पधारिये!!!'

'जरा-सा'

(लेखक—वैद्य श्रीनन्दकिशोरजी जोशी)

मन पथिक ! यह क्या ? पग-पगपर रुकता है, कहता है—'जरा-सा' ? क्यों, यह कैसा 'जरा-सा' ? 'जरा-सा, जरा-सा' करते तो यह दिन आया और हो गयी यह दशा ! अब भी वही 'जरा-सा' । एक सत्यवादी कहता है—'न कहो असत्य !' तब भी तू कहता 'जरा-सा ! जरा-से झूठसे क्या होता है ? धर्मराज युधिष्ठिर भी तो बोले थे जरा-सा असत्य ! तो फिर जरा-से असत्यमें हर्ज ही क्या है ?'

एक सिद्ध पुरुष कहता है—'डूबो संसार-सागरमें, इसकी इन क्षणिक मोहिनीरूपी कुमुदिनी-लताओंपर मुग्ध होकर ।' किंतु तू तो कहता है—'जरा-सा । बस, जरा-सा ही आनन्द । सिर्फ एक बार और देख लूँ जरा-सा । इससे मेरा बिगड़ेगा ही क्या ?'

एक सांसारिक मानव, जो भागता है भक्तिसे और लीन है वैभवमें, कहता है बार-बार—'जरा-सेमें क्या हानि है ? जरा-सा मांस, जरा-सी मादक मदिरा, जरा-सा तीक्ष्ण मसाला—इससे क्या ? इतनेमें थोड़े ही बिगड़ता है स्वास्थ्य या डूबता थोड़े ही है धर्म ! सिर्फ जरा-सा ही तो कहता हूँ । इससे तो स्वास्थ्य-सौन्दर्य बढ़ता ही है ।' पर हाँ ! यदि नियमित रूपसे जरा-जरा-सेके चक्करमें फँसा तो क्या दुर्गति होगी, प्रतिदिन देखता ही है ।

मन पथिक ! मत भूल, यह 'जरा-सा' तो महान् दुःखदायी है । इसी 'जरा-से'में तो हो जाता है जीवनका सर्वनाश । पूछता है कैसे ? अरे ! भूल गया उस अभागिनी माताकी कहानी । हस्तिनापुर नामक नगरमें रहती थी—एक दीन विधवा, जिसके था एकमात्र इकलौता लड़का । वह पढ़ता था पाठशालामें; चुरा लाया एक दिन पाठशालासे छोटा-सा पेंसिलका टुकड़ा और लाकर दिया माताको । माताने उसको डाँटा-फटकारा नहीं, बल्कि किया उल्टा प्यार । और कहा—'अच्छा बेटा ! पढ़ो ।' फिर चुरा लाया कुछ दिनके बाद एक पुस्तक । माताने पुस्तकको बेच दिया और दिला दी बदलेमें मिठाई । इस प्रकार बीत गये अधिक दिन और पड़ गयी लड़केको चोरी करनेकी आदत । जब ज्ञात हुआ अध्यापकको तो निकाल दिया उसे पाठशालासे । अब वह लड़का हो गया और भी स्वच्छन्द तथा करने लगा और भी बड़ी-बड़ी चोरियाँ । इस प्रकार धीरे-धीरे लड़का बड़ा हुआ । एक दिन उसने राजमहलमें चोरी की और असावधानीके कारण पकड़ा गया । दण्डरूपमें हो गया फाँसीका हुक्म । पर कहा गया—क्या है तेरी अब अन्तिम अभिलाषा ?' लड़केने कहा—"मुझे मिलना है मेरी मातासे 'जरा-सा' ।" शीघ्र ही बुलायी गयी माता । जब समीप पहुँची माता, तब कानमें बात कहनेके बहाने लड़का समीप मुँह ले गया और काट ली दाँतोंसे माताकी नाक । दर्शकोंने कहा—'अरे दुष्ट ! यह क्या किया तूने ? मर रहा है तू, फिर क्यों मारता है इसे ?' लड़केने कहा—"यदि न करती यह 'जरा-से' पेंसिलके टुकड़ेके बदलेमें प्यार तथा न खरीद देती चुरायी हुई पुस्तकके बदलेमें मिठाई तो क्यों आता आज यह दिन और क्यों जाते मुफ्तमें प्राण ! इसके ही 'जरा-से' लोभ एवं असावधानीने किया है मेरा सर्वनाश ।"

हमारे शास्त्र, हमारे इतिहास—महाभारत-रामायण आदिमें भी सहस्रों ऐसे उपाख्यान हैं, जिनमें हम देखते हैं कि 'जरा-सी' सावधानी या असावधानी, 'जरा-सा' सद्व्यवहार या असद्व्यवहार कितना बड़ा शुभ या अशुभ सृष्ट कर देता है तथा इतिहासको मोड़ देता है ।

इस प्रकार यह 'जरा-सा' सदा अहितकर है । इसी 'जरा-से' में बाल्यकाल गया, यौवन गया, अब यह 'जरा-

सा' जराको भी तो जरा-जरा-सा करके खा जायेगा। फिर तू कैसे पहुँच सकेगा अपनी मंजिलपर ? मन पथिक ! तू पराश्रित भी तो है—तुझे तो इस नश्वर पञ्चभूतमय शरीरके द्वारा ही तो करना है सब कुछ। पथिक ! भूल जा इस 'जरा-सा' को, नहीं तो यह 'जरा-सा' न जाने क्या-क्या कर दिखायेगा। तुझे मालूम होना चाहिये कि यह 'जरा-सा' ही तो है सर्वनाशका द्योतक ! मन पथिक ! शत्रु कहता है—"मुझे 'जरा-सी' आग तुम्हारे फूँसके घरसे स्पर्श कराने दो। क्या होता है, थोड़े ही कुछ बिगड़ेगा 'जरा-सी' आगसे।" वृश्चिक कहता है—"मुझे 'जरा-सा' ही तो स्थान चाहिये अपने पतलेसे डंककी नोकको रखनेके लिये।" किंतु तू तो इनसे भागता है कोसों दूर। क्यों ? वह तो 'जरा-सा' ही तो चाहता है, स्थान, क्षणिक विश्रामके लिये।

इस 'जरा-से' में ही कैसी होली हो जाती है। राजा बलिसे भगवान् वामनने भी तो माँगी थी 'जरा-सी' भूमि—सिर्फ साढ़े तीन हाथ—विश्रामके लिये ! किंतु बलिने खो दिया था सब कुछ। यह कैसा 'जरा-सा' ? एक नाविक उपेक्षा करता है 'जरा-से' छिद्रकी। किंतु इस 'जरा-सी' ही उपेक्षाका परिणाम इतना भयंकर होता है कि हजारों यात्री समुद्रके गर्भमें हो जाते हैं गर्क और करते हैं अपनी जीवन-यात्राका अन्त। विमान-चालक, कार-ड्राइवर, रेल-ड्राइवर आदिकी 'जरा-सी' असावधानीसे कितने घर उजड़ जाते हैं—यह हम प्रतिदिन देखते हैं। ऊँची-सी पहाड़ीपर विचरनेवाला प्राणी 'जरा-सी' ही असावधानीसे कर देता है अपना सर्वनाश। प्रबल वेगवती नदीमें 'जरा-सी' भूलसे ही तो पहुँचता है मानव यमपुर।

मन पथिक ! 'जरा-सा' तो अपना साथ न छोड़ेगा, पड़ा है पीछे, करनेको अन्त। किंतु पथिक ! यह 'जरा-सा' जिस प्रकार हानिकारक है, उसी प्रकार लाभप्रद भी तो है। 'जरा-सा' सत्सङ्ग कितना सुखकर है। रत्नाकर 'जरा-से' सत्सङ्गसे ही तो वाल्मीकि बना। 'जरा-जरा-से' रज-कणसे बना है—हिमालय। उसी प्रकार 'जरा-जरा-से' पानीसे ही तो भरा है—महासागर। यही बात है अखिल विश्वकी, यह भी तो बना है 'जरा-जरा-से' परमाणुओंसे मिलकर। इसी प्रकार 'जरा-सी' ही दयासे तो हो सकती है छोटे-छोटे लाखों जीवोंकी रक्षा और मिल सकता है उन्हें जीवन-दान। इसी प्रकार परम पिता परमात्माकी 'जरा-सी' ही कृपासे होता है—अखिल विश्वका कल्याण तथा 'जरा-सी' ही भृकुटीके वंकमात्रसे होता है—महाप्रलय।

मन पथिक ! 'जरा-जरा-सा' हरि भजन यदि किया जाय प्रतिदिन तो मिल सकती है मुक्ति; किंतु, पथिक ! तुझे क्या, तू क्यों उलझता है इस 'जरा-से' के झगड़ेमें ? तू तो चला चल सत्पथपर और किये जा निरन्तर हरि-भजन, जिससे पहुँचेगा अवश्य ही लक्षित स्थानपर और प्राप्त कर सकेगा वास्तविक सुख, शान्ति और कल्याण।

सरस्वती-वन्दना

कल्पना-विहंगके लगा दे व्योमव्यापी पंख
विश्वकी विशालतासे विस्तृत विचार दे।
सारे वायुमण्डलसे परिचय पाने हेतु,
साँसकी ससीमता को विशद प्रसार दे॥
हृदय-सितारके जो ढीले पड़े तार उन्हें,
चावसे सुधार दे, नवीन झंकार दे।
मातृवत् प्यार दे, पसार दे दयाका हाथ,
सारे कार्य साध दे ! हे शारदे ! विशारदे !!

—विष्णुदेवसिंह चौहान

एक सज्जनके पत्रके उत्तरमें नम्र निवेदन

प्रिय महोदय,

सप्रेम भगवत्स्मरण । आपका पत्र मिला । आपने लिखा कि आपके मनमें केवल एक ही इच्छा है कि आपको और आपकी पत्नीको भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जाय । ऐसी ऐकान्तिक इच्छा तो सचमुच बड़े भाग्यसे हृदयमें जाग्रत् होती है । आप विश्वास रखें कि भगवत्प्रेमको प्राप्त करनेकी इच्छा मनमें जाग्रत् होनेपर भगवान् उसे अवश्य पूर्ण करते हैं । अवश्य ही यह इच्छा होनी चाहिये सच्ची । हमारी प्रेम-प्राप्तिकी इच्छा सच्ची है या नहीं—इसकी परीक्षा भी भगवान्की ओरसे होती है और यदि हम उस परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाते हैं तो भगवान् हमें हमारी अभिलषित वस्तु दिये बिना रह नहीं सकते । अवश्य ही उसे वे पूर्ण तभी करेंगे, जब वे ठीक समझेंगे । इच्छा हमारी सच्ची है या नहीं—इसकी पहचान यही है कि वह इच्छा अदम्य होती है; पूर्तिमें विलम्ब होनेपर वह इच्छा बढ़ती है, घटती नहीं ।

इस इच्छाकी पूर्ति भगवान् किसी शर्तपर नहीं करते । आपने यह लिखा कि 'यह इच्छा आपकी तब पूर्ण हो, जब आप प्रभुकी आज्ञाका पालन करें तथा उनकी शरण ग्रहण कर लें ।' ऐसी बात नहीं है । भगवान् केवल यही देखते हैं कि हमारी इच्छा ऐकान्तिक तथा सच्ची है या नहीं । बाकी काम वे स्वयं कर देते हैं । अतः आपसे यही प्रार्थना है कि आप अपनी इस इच्छाको प्रबल बनाइये, उसे किसी कारणसे भी शिथिल न पड़ने दें । मनमें यह विश्वास रखें कि भगवान् आपकी इस इच्छाको अवश्य पूर्ण करेंगे और करेंगे अपनी कृपासे, आपकी किसी योग्यताको देखकर नहीं । विश्वास मानिये—भगवान् पात्रता-अपात्रता नहीं देखते । वे देखते हैं केवल हमारी सचाईको, हमारी लगनको, हमारी तड़पको । आवश्यकता केवल इतनी ही है कि हम सच्चे मनसे चाहें कि हमें उनका प्रेम प्राप्त हो । अवश्य ही हमारे मनमें यह तैयारी होनी चाहिये कि इसके लिये वे हमसे जो भी मूल्य चाहें, हम उसे सहर्ष चुका दें—यद्यपि भगवत्प्रेमका कोई मूल्य है ही नहीं, जिसे हम चुका सकें । यदि ऐसी तैयारी हमारे अंदर नहीं है तो हमने उसका महत्त्व कहाँ समझा ।

आप भगवान्की परीक्षा लेना छोड़ दें । उन्हें अपने मनकी करने दें । आप अपनी जानमें उन्हें निरन्तर स्मरण रखनेकी चेष्टा करते रहिये । पापसे भी यथासम्भव बचते रहिये । मनसे अपनेको प्रभुके चरणोंमें डाल दें । वे क्या करते हैं और क्या नहीं करते, इसकी चिन्ता छोड़ दें । अपना कर्तव्य, जो भी समझमें आये, यथाशक्ति करते चले जाइये । प्रभु-कृपापर विश्वासको डिगने मत दीजिये । सब कुछ उनकी कृपासे ही होगा—यह निश्चय मानिये । परंतु अपना प्रयत्न भी न छोड़िये । कृपापर विश्वासका अर्थ यह नहीं कि आप अपनी ओरसे प्रयत्न करना छोड़ दें । प्रयत्न सफल होता दीखे तो उस सफलताका श्रेय प्रभु-कृपाको ही दें । यदि प्रयत्नमें आप असफल सिद्ध होते हैं तो उसमें हेतु अपने प्रयत्नकी कमीको मानिये, प्रभुकृपाको दोष मत दीजिये । आस्तिक बनिये ।

भगवान्से उनके प्रेमके लिये, कृपाके लिये, विश्वासके लिये, मन-इन्द्रियोंपर काबू पानेकी शक्तिके लिये, उनके आज्ञानुसार—शास्त्राज्ञानुसार चलनेकी शक्तिके लिये प्रार्थना करते रहिये । परंतु यदि सुनवाई न होती दीखे तो निराश न होइये, भगवान्को कोसिये मत, प्रार्थना करना छोड़िये मत । उस मुस्लिम संतके जीवनसे शिक्षा ग्रहण कीजिये, जो जीवनभर सिजदा (भगवान्की बंदगी) करता रहा, परंतु जिसकी

एक भी वंदगी भगवान्‌को स्वीकार नहीं हुई । फिर भी वह निराश नहीं हुआ और उसने बंदगी करना छोड़ा नहीं ।

भगवत्कृपाका रहस्य प्रश्नोत्तरसे अथवा पुस्तकीय ज्ञानसे समझमें नहीं आयेगा । वह भगवत्कृपाके आश्रित होनेसे, उनकी कृपापर अपनेको डाल देनेसे ही समझमें आयेगा । ऊपर लिखी प्रार्थनापर ध्यान दें और भगवान्‌को अपने मनकी करने दें । वे कब क्या करते हैं और क्यों करते हैं—इसका विचार छोड़ दें । उनको बालकवत् पुकारते रहें इस अटल विश्वासके साथ कि 'कबहुँक दीनदयाल के भनक परैगी कान ।' शेष भगवत्कृपा ।

आपका,

चिम्मनलाल गोस्वामी

प्रार्थनाका महत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भगवान्‌की प्रार्थनामें बड़ा बल होता है । हमारी न्यायोचित माँग ईश्वर स्वयं पूर्ण करते हैं । उन्हें प्रत्येककी सहायताका सदैव ध्यान रहता है । ईश्वरकी सृष्टिमें हर प्रकारके जीव-जन्तु, पशु-पक्षी मौजूद हैं । उनके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारके भोजन तथा रक्षणकी आवश्यकता होती है । इस असंख्य और अपरिमित जीव-जगत्‌का रक्षण, भरण-पोषण ईश्वरके द्वारा होता रहता है । इस महान् कृतिको जीवित रखनेके लिये प्रत्येक अणुमें उनकी सत्ता व्याप्त है । परमात्माका नियम है कि उनके राज्यमें कोई भूखा न रहे, प्राणीमात्र आनन्द प्राप्त करें । प्रत्येक व्यक्ति अपनी विवेक-बुद्धिके द्वारा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ईश्वरके अस्तित्वको पहचाने, अपनी दिव्य शक्तियोंका सदुपयोग करे । प्रार्थना वह साधन है, जो हमारे लिये ईश्वरीय सहायताका द्वार खोल देती है ।

यदि थोड़ा भी ध्यान दें तो हम पद-पदपर प्रार्थनाका अद्भुत प्रभाव अनुभव कर सकते हैं । अनादिकालसे सभी देशोंके तथा सभी श्रेणियोंके व्यक्ति प्रार्थनाका महत्त्व अनुभव करते आये हैं । आजके बड़े-बड़े बुद्धिजीवी भी प्रार्थनाके महत्त्वको स्वीकार करते हैं । महात्मा गांधी प्रार्थनाको 'आत्माका भोजन' कहते थे और वे जीवनभर प्रार्थना करते रहे । उनकी सायंकालकी प्रार्थनाका इतना दृढ़ नियम था कि समय हो जानेपर वे अन्य किसी भी महत्त्व-से-महत्त्वपूर्ण कार्यकी भी परवा नहीं करते थे और प्रार्थना अवश्य करते थे । उनका जीवन प्रार्थनाके विलक्षण चमत्कारोंसे भरा पड़ा है ।

विदेशोंमें भी प्रार्थनाका महत्त्व सर्वत्र स्वीकृत है । आज विज्ञानकी इतनी उन्नति होनेपर भी वहाँ लोग व्यक्तिगत रूपसे एवं सामूहिक रूपसे प्रार्थना करते हैं । स्वर्गीय डॉ० श्रीदुर्गाशंकरजी नागरने अपने विदेश-प्रवासके अनुभव लिखते समय इंग्लैंडके जार्ज मूलरके जीवनकी कुछ घटनाओंद्वारा प्रमाणित किया है कि आज भी वहाँ प्रार्थनापर लोगोंका दृढ़ विश्वास है और उससे असम्भव कार्य भी होते देखे जाते हैं । वे लिखते हैं—

"विलायतके प्रसिद्ध आर्तसेवी जार्ज मूलरने सैकड़ों अनाथालय स्थापित किये हैं, जिनका सारा खर्चा प्रार्थनापर ही चलता है । वे सहायताके लिये कभी किसीके पास याचना करने नहीं जाते थे । कोठरी बंदकर वे प्रभुसे ही प्रार्थनाद्वारा माँग किया करते थे । जब-जब उनके सामने कोई पेचीदगी उपस्थित होती, उसी समय वे चुपचाप ईश-प्रार्थनामें तन्मय हो ईश्वरीय सांनिध्य प्राप्त करते । ईश्वर उनकी प्रार्थना स्वीकार करता । प्रार्थनाके बलपर प्रारम्भसे ही उन्हें अनाथालय चलानेके लिये धन प्राप्त हुआ करता था । लाखों रुपये उनके पास घर बैठे ही आ जाते थे । दो करोड़से ऊपर रुपये बिना माँगे प्रार्थनाके बलसे ही मूलर साहबको प्राप्त हुए थे । उन्हें प्रार्थनाकी शक्तिमें पूर्ण विश्वास था ।

"एक बार संयोगसे उनके अनाथालयके दो हजार बालकोंके लिये भोजन नहीं था । विषम स्थिति थी । बच्चोंकी भूखको कैसे शान्त किया जाय, यह समस्या उपस्थित हो गयी थी ।

मूलर साहबको प्रार्थनामें पूरा भरोसा था। वे अनाथालयके प्रबन्धकसे बोले—'आप अपना काम कीजिये। बालकोंको भोजन परोसनेके लिये टेबल, तश्तरी और पानीका प्रबन्ध कीजिये। ईश्वर कहीं-न-कहींसे शीघ्र ही भोजन भेजनेवाले हैं।'

प्रबन्धक सोचने लगा कि मूलर साहब पागल तो नहीं हो गये हैं! वह निष्क्रिय खड़ा रहा। भला, भोजन कहाँसे आयेगा।

थोड़ी देर बाद प्रबन्धकसे उन्होंने फिर भोजनका प्रबन्ध करनेका आदेश दिया! बच्चोंके भोजनको परोसनेका समय अब बिल्कुल निकट आ गया था। उधर कहींसे भोजनके आनेकी सम्भावना न दीखती थी।

'आप अपना काम जारी रखिये। बच्चोंको भोजन परोसनेका प्रबन्ध कीजिये।' मूलर साहबने फिर दोहराया। वे प्रभुकी दिव्य सहायताकी प्रार्थना कर रहे थे।

इतनेपर भी प्रबन्धकको संतोष न हुआ। उसने पुनः मूलर साहबके पास आकर आग्रहपूर्वक कहा—'अब तो खानेका समय आ ही गया है। मेज और तश्तरी इत्यादि रखी जा चुकी हैं। क्या बच्चोंको भोजनालयमें बुलानेकी घंटी बजा दी जाय?'

'हाँ, भोजनालयमें बुलानेकी घंटी बजा दो। हमने प्रार्थनाद्वारा जो कुछ करना था, वह कर दिया है। अब शेष जिनका काम है, वे अपना कार्य करेंगे। देखना है, यह कार्य कैसे सिद्ध होता है?'

इतनेमें घंटी बजी। भोजन खानेके लिये बालक जल्दी-जल्दी एकत्र होने लगे। भोजनालयमें आकर सब अपने-अपने स्थानपर बैठ गये।

इतनेमें एक आश्चर्यजनक घटना घटी।

तुरंत ही रोटियाँ, सब्जी, मिठाई, पकवान तथा अन्य भोज्य पदार्थोंसे भरी हुई एक गाड़ी अनाथालयमें आ पहुँची। सभी अचरजमें खड़े थे। यह सब कैसे हो गया! इतने बड़े परिमाणमें भोजन कहाँसे आ पहुँचा था? वह किसने भिजवाया था?

ईश्वरके अपना उद्देश्य पूर्ण करनेके अलग उपाय होते हैं। उन्हें पता रहता है कि कब किसकी सहायता कैसे करनी है।

बात यों हुई कि किसी बड़े अमीरने उसी दिन अपने मित्रोंको एक बड़ा भोज देनेका आयोजन किया था और एक प्रसिद्ध होटलमें भोजन पकवाया था; किंतु यकायक किसी कारणवश उसे उस दिन वह दावत स्थगित करनी पड़ी थी। उस मनुष्यको दिव्य भगवत्प्रेरणा हुई कि यह सब पका हुआ भोजन सड़ जायगा। इसलिये उसने होटलके मैनेजरको आदेश दिया—'आप इस सब भोजनको मूलर साहबके अनाथालयमें भेज दीजिये। अनाथालयके बालकोंके काम आ जायगा।'

फिर क्या था, सब बच्चोंने खुशीसे भरपेट भोजन पाया। प्रार्थनाका तत्काल उत्तर मिलनेकी इस घटनापर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। मूलर साहबने प्रार्थनासे उठकर प्रबन्धकको बुलाया और उसे चेतावनी दी—'तुम्हारे-जैसे व्यक्तिकी हमें आवश्यकता नहीं है, जिसे उस दानी, परमपिता परमेश्वर-पर घंटेभरके लिये भी विश्वास नहीं है।''

मूलर साहबके जीवनकी एक और घटना है। एक बार वे जलयानमें बैठकर कहीं 'ईश्वर-प्रार्थनासे लाभ' विषयपर व्याख्यान देने जा रहे थे। संयोगसे मार्गमें बड़े जोरोंका तूफान और कुहरा पड़ा। सर्वत्र धुंध छायी हुई थी और रास्ता बिल्कुल नहीं दीखता था।

'महाशय! मुझे शनिवारके दिन पहली तारीखको सायंकालसे पूर्व क्वेबेक नगर अवश्य पहुँचकर ईश-प्रार्थनापर भाषण देना है।' मूलर साहबने पानीके जहाजके कप्तानसे कहा।

'आज मौसम बड़ा खतरनाक है। देखो, कैसा कुहरा पड़ रहा है। जहाजका तूफानमें जाना असम्भव दीखता है!' कप्तानने दुःख प्रकट करते हुए उत्तर दिया।

'हम एक उपाय कर सकते हैं। उससे मुसीबतें दूर हो जायँगी।' मूलर साहबने ढाढ़स बँधाया।

'वह क्या है?' कप्तानने जिज्ञासा प्रकट की।

'आओ, ईश्वरसे प्रार्थना करें कि यह विपत्ति दूर हो जाय।' मूलर साहबने मार्ग सुझाया।

'आप किस पागलखानेसे आये हैं, जो इस प्रकारकी अनहोनी बातें करते हैं।'

'मैंने प्रार्थना की है और मुझे ईश्वरीय गुप्त सहायतामें विश्वास है। मैं अनन्त सामर्थ्यों और असीम विभूतियोंके स्वामी ईश्वरको अपना सहायक मानता हूँ। इस संसारमें सर्वत्र उन्हींका वैभव तो फैला हुआ है। जो इतने शक्तिशाली

पिताका पुत्र है, वह निस्सहाय होनेकी बात क्योंकर सोच सकता है। ईश्वरको अपनेसे असम्बद्ध माननेसे ही निराशा आती है। मैं सत्तावन वर्षसे अपने प्रभुसे गुप्त दिव्य सहायता पा रहा हूँ और अभीतक मेरी प्रार्थनाके अचूक उत्तर मिले हैं। मेरी दृष्टि उस परमप्रभुकी ओर है, जो जीवनकी प्रत्येक स्थितिपर शासन करता है। डेकपर जाओ; देखो, कुहरा उतर रहा है। ईश्वरकी सहायताके कारण मौसम अनुकूल होता जा रहा है।'

कप्तान केबिनसे बाहर गया। आश्चर्यसे उसने देखा कि सचमुच कुहरा दूर होने लगा था। लगता था, जल्दी ही वह मौसम अनुकूल हो जायगा। कप्तान इस सीधे-साधे, भोले भक्तकी प्रार्थनाके प्रभावको देखकर चकित हो गया।

वैसा ही हुआ! ईश्वरकी प्रार्थनाके बलसे कुहरा दूर हुआ और मूलर क्वेबेक ठीक उसी समय पहुँचे, जब उनका वहाँ पहुँचना आवश्यक था।

जार्ज मूलर ९४ वर्ष जीवित रहे। जन्मसे ही वे दुर्बल-शरीर थे। फिर भी सत्तर वर्षकी उम्रके बाद भी सारे विश्वमें भ्रमण कर ईश्वरवादका प्रचार करते रहे। जो-जो प्रेरणाएँ प्रार्थनाके समय होती थीं, उन्हींके अनुसार वे अपना कार्य-क्रम जारी रखते थे।

इस घटनामें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। अनेक व्यक्तियोंके जीवनमें ऐसी अजीब घटनाएँ घटती रही हैं। लोगोंको अनेक प्रकारकी परीशानियोंसे मुक्ति ईश्वरीय प्रार्थना-के बलपर मिली है। विश्वकी इतनी बड़ी रचनामें जो चैतन्य समाया है, वह कितना समर्थ है—यह बात ऐसी घटनाओंसे स्पष्ट हो जाती है।

पं० शिवदत्त शर्माने अपने एक परिचितका उल्लेख किया है। एक बार उनकी पुत्री अत्यन्त बीमार पड़ी और क्रमशः मरणासन्न दशामें पहुँच गयी। जब उन्होंने समस्त युक्तियाँ निष्फल देखीं, तब वे सबको छोड़कर अपने घरकी तीसरी मंजिलपर भगवान्के मन्दिरमें उनकी मूर्तिके सामने जाकर रोने लगे। आकाशमें ईश्वरको हाथ जोड़कर पृथ्वीकी ओर मुँह कर साष्टाङ्ग गिर पड़े। फिर अत्यन्त दैन्य-भावसे प्रार्थना की—

'हे नाथ! मेरे तो समस्त सांसारिक प्रयत्न, सम्पूर्ण आशाएँ अब निष्फल हो चुकी हैं। अब मैं सहायता और शक्तिके लिये आपके शरण आया हूँ। आपकी कृपासे सब आधि-व्याधि दूर होती है। अब इस बालिकाकी प्राणरक्षा आपके ही हाथ है। प्रभो! अपने इस भक्तकी ओर निहारिये और बच्चीको जीवन-दान दीजिये।'

पूरे विश्वासी और एकनिष्ठ हो वे सच्चिदानन्द परमात्मा-की पूर्ण अनुभूति करते रहे। अपने अश्रु-बिन्दुओंसे हृदय-स्थित प्रभुकी मानस-मूर्तिके चरण पखारते रहे। उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा, जब वहाँसे नीचे उतरकर उन्होंने देखा कि लड़की क्रमशः चेतना-लाभ कर रही है। ईश्वरीय शक्तिके प्रभावसे उसका रोग और पीड़ा बहुत कम हो गयी है और वह स्वस्थ हो रही है।

इस प्रकार अनेक आस्थावान् व्यक्तियोंने शारीरिक, मानसिक और स्वास्थ्य-सम्बन्धी कठिनाइयोंको प्रार्थनाके बल-से दूर किया है। रोगीको बिना देखे प्रार्थनाकी शक्तिसे इलाज किया जाता है। विपत्ति, चिन्ता, भय, बीमारी, दरिद्रता, हानि, बेकारी आदि सब संकट-कालीन परिस्थितियोंमें प्रार्थनाद्वारा अदृष्ट शक्ति मिलती रही है।

निश्चय जानिये, प्रार्थना वह पुष्ट आध्यात्मिक प्रक्रिया है, जो उत्तेजित और विक्षुब्ध मनको ठंडा करती है और उसे संतुलित और संतुष्ट करती है।

प्रार्थना मनुष्यके दैवी गुणोंका विकास करती है, उन्नति और सफलताके अभिनव मार्ग खोलती है।

यह हाड़-मांसका मानव कहलानेवाला पुतला हमारे गुप्त मनसे संचालित होता है। प्रार्थना हमारे गुप्त मनको दैवी शक्तिसे जोड़ देती है। हम कठिनाइयोंसे डटकर मुकाबला करनेकी शक्तिको विकसित करते हैं। यह हमारे सोये हुए आत्म-विश्वासको जाग्रत् कर देती है। हम अपने-आपको कमजोर माननेके बजाय ईश्वरको अपने साथ रक्षकके रूपमें मानने लगते हैं। इस प्रकार प्रार्थना हमें नयी हिम्मत और आत्मबल देती है। हमारी विषम परिस्थितियाँ बदलकर उपयोगी बन जाती हैं।

सिगरेटने मुझको मार डाला !

मार्क वार्टर्स नामक अमरीकन लेखकने अपनी कहानी मरनेसे चार दिन पहले लिखी । उसके सम्बन्धमें उसने स्पष्ट कह दिया—"यह मेरा 'मृत्यु-पत्र' है और मैं इस उद्देश्यसे लिख रहा हूँ कि शायद कोई इससे लाभ उठा सके ।' कहानी इस प्रकार है—

"सिगरेट मेरे लिये मृत्यु सिद्ध हुई । अपने इस घातकके साथ मेरा परिचय १४ सालकी उम्रमें हुआ था, जब मैं अपने पिताकी जेबसे चोरीसे सिगरेटें निकालकर पीने लगा । आरम्भमें धुआँ भीतर जानेपर जी कुछ मिचलाता था, पर धीरे-धीरे अभ्यास हो गया ।

"कुछ समय पश्चात् मैंने जहाजी सेवामें नाम लिखा लिया । वहाँ सिगरेटें बहुत कम कीमतमें मिल जाती थीं । मैं हर रोज दो पैकेट पी जाता था । जब मैं २० सालतक जल-सेनाकी नौकरी पूरी कर चुका, तब फिरसे विश्वविद्यालयमें दाखिल होकर बी० ए० की डिग्री प्राप्त की और एक अखबारमें काम करने लगा । एक रातको जब मैं अपनी मोटरकी तरफ जा रहा था, तब मुझे अपने भीतर एक हल्का धक्का-सा जान पड़ा और मैं एक तरफ लड़खड़ा गया । उस रातको मैं एकके बाद दूसरी सिगरेट पीता जाता था । बादको मैंने तथा मेरी स्त्रीने भी इस घटनाका ध्यान भुला दिया ।

"पर मेरा स्वास्थ्य बराबर गिरता जाता था, मेरे मुँहका स्वाद हमेशा बड़ा खराब रहता था, भूख मारी गयी थी, साँस लेनेमें कठिनाई होती थी और छातीमें जल्दी ही ठंडका असर हो जाता था । जून १९६५ में मेरे पेटमें तकलीफ रहने लगी, जिसमें मैं रातको एक-एक घंटे बाद उठकर दूध पीता और सिगरेट भी । सितम्बरमें बड़े जोरसे खाँसी आने लगी और फेफड़ेमें दर्द अनुभव होने लगा । मैं डाक्टरके पास गया तो उसने एक्सरेसे जाँच करके बताया कि फेफड़ेमें गाँठ पैदा हो गयी है । एक सर्जनने उसे ऑपरेशन करके निकाल दिया । मैं एक महीना बाद अपने कामपर लौट आया और तीन महीनेतक अच्छी तरह काम करता रहा । तब मैंने सिगरेट पीना छोड़ दिया था; क्योंकि उसके पीते ही फेफड़ेमें कष्ट होने लगता था ।

"जनवरीमें मुझे ठंड लगनेसे फिर बीमारीने आ घेरा । अब मुझे बार-बार डाक्टरके पास जाना पड़ता था । बादमें मुझे मालूम हुआ कि डाक्टरने पहले ऑपरेशनके बाद ही मेरी स्त्रीसे कह दिया था कि यह सालभर भी जिंदा नहीं रह सकता, पर उसने न तो उसकी बातपर विश्वास किया और न मुझसे ही कहा । डाक्टरने बतलाया कि 'फेफड़ेका कैंसर चार तरहका होता है, जिसमेंसे कोई धीरे-धीरे बढ़ता है और कोई बहुत जल्दी । उसने यह भी कहा कि 'कैंसरके बीस बीमारोंमेंसे एक बच पाता है । जो लोग बहुत अधिक सिगरेट पीते हैं, उनमेंसे १५-२० प्रतिशत व्यक्तियोंको कैंसर अवश्य हो जाता है । सिगरेट पीनेसे केवल कैंसर ही पैदा नहीं होता, वरन् कई प्रकारके अन्य शारीरिक दोष भी वृद्धिको प्राप्त हो जाते हैं, जिससे जल्दी मृत्यु हो जाती है ।'

"मैं नहीं जानता कि मेरी यह आप-बीती कहानी किसीकी सिगरेट पीनेकी आदतको रोक सकेगी या नहीं ! किंतु लोग इस सत्यसे अपरिचित न रह जायँ, इसलिये यह कहानी लिख रहा हूँ । मेरी साँस इतनी जल्दी भर जाती है कि मैं बिना बैठे पाँच कदम भी नहीं चल सकता । कैंसर मेरे यकृत्तक पहुँच चुका है । इसलिये अब मेरे बचनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता । मैंने तो सावधान होनेमें बहुत देर कर दी, पर शायद आपके लिये अभी समय है ।"

('युग-निर्माण-योजनासे' साभार)

पढ़ो, समझो और करो

(१)

अनर्थरूप अर्थ

परमहंस रामकृष्णदेवने अपने आपको माँ कालीके समर्पित कर दिया था। 'माँ काली ही मेरे योगक्षेमका वहन करती हैं'—उनका ऐसा दृढ़ विश्वास था। अर्थ (रुपये-पैसे) को जड मानकर वे उसका स्पर्शतक नहीं करते थे।

श्रीलक्ष्मीनारायण नामके एक सज्जन कभी-कभी उनके दर्शन करने आया करते थे। वे श्रीमद्भागवत और श्रीगीताजीके मर्मज्ञ थे। श्रीलक्ष्मीनारायणने एक दिन देखा कि परमहंसदेवके बिछौनेकी चद्दर फट गयी है। उन्होंने उसे बदलनेका आग्रह किया; परंतु परमहंसदेवने कहा—'मालिकके मनमें जब आयेगा, तब वे अपने-आप ही बदल देंगे।' श्रीलक्ष्मीनारायणने कहा—'यह बात ठीक नहीं है।' उनके मनमें आया कि धनीलोग साधु-संतोंकी उपेक्षा करते हैं, यह उचित नहीं है। संतलोग कहाँ माँगते फिरेंगे'—ऐसा विचार करके उन्होंने परमहंसदेवसे निवेदन किया—'महाराजजी! मैं कंपनी (ईस्ट इण्डिया) सरकारमें आपके नामसे दस हजार रुपयेका कागज खरीदकर जमा कर देता हूँ। उससे चालीस रुपये मासिककी आय होगी और आपका काम आसानीसे चल जायगा।'

परमहंसदेवने सहजभावसे उत्तर दिया—'देह भी जड है, अर्थ भी जड है; देहके लिये अर्थकी आवश्यकता है, मेरे लिये कदापि नहीं। आप समझते होंगे कि रानी रासमणि मेरा पालन करती हैं, पर यह मिथ्या है; वे क्या पालन कर सकती हैं ? मेरी काली माँ ही मेरे लिये भोजन-वस्त्र आदिकी व्यवस्था करती हैं। अर्थ मनुष्यको पतित बना देता है। मनुष्य विषय-सेवन कर अर्थके द्वारा पाप कमाता है। अतः मेरे लिये अर्थकी व्यवस्था करके मुझे पतनके गड्ढेमें मत डालिये।'

परमहंसदेवकी इन बातोंसे श्रीलक्ष्मीनारायणको विशेष संतोष नहीं हो सका। उन्होंने अपनी बातपर जोर देकर आग्रहपूर्वक कहा—'आप अपने नामसे जमा न करवाना चाहें तो ऐसे आदमीको बताइये, जिसके नामसे रुपया जमा हो जाय और आपका काम चलता रहे।'

परमहंसदेवने उत्तर दिया—'यह तो और भी अधिक अशान्तिका कारण होगा। यह तो बहुत बड़ी चोरी है, बेईमानी है कि अपने नामसे रुपया न जमा कर दूसरेके नाम रखकर उसका उपभोग किया जाय। यह महान् पाप है, इससे नाम और भी कलङ्कित होता है।'

श्रीलक्ष्मीनारायणने पुनः आग्रह किया और कहा—'मैं रुपये वापस नहीं ले जा सकता। इसे आपको स्वीकार करना ही होगा।'

श्रीलक्ष्मीनारायणका अनुचित आग्रह किसी भी रूपमें मानना परमहंसदेवके लिये सम्भव नहीं था। वे जोर-जोरसे रोने लगे और काली माँसे प्रार्थना करने लगे—'माँ! आप ऐसे लोगोंको मेरे पास क्यों भेजती हैं, जो मुझे आपसे दूर करना चाहते हैं ?' ऐसा कहते-कहते वे समाधिस्थ हो गये। श्रीलक्ष्मीनारायण परमहंसदेवकी यह स्थिति देखकर चकित हो गये। पीछे समाधि-भङ्ग होनेपर परमहंसदेवने बड़े प्रेमसे उन्हें समझाया कि अर्थका लोभ दिखाकर वे कितना बड़ा अनर्थ कर रहे थे।

(२)

हृदय-परिवर्तन

एक बार मैं अपनी बहनके गाँव गया था। वहाँ एक सज्जनने मुझे अपने जीवनका एक अनुभव सुनाया, जिसे मैं उन्हींके शब्दोंमें यहाँ देता हूँ—

'एक बार मुझे अपने भानजेकी शादीमें भातका नेग* लेकर जाना था। दो-तीन दिनोंसे आवश्यक वस्तुओंकी व्यवस्था करनेके प्रयासमें हमलोग थे। दस तोले सोनेके जेवर भी बनवाकर एक डिब्बेमें रख दिये थे। डिब्बेको एक संदूकमें बंद कर दिया था और हम दूसरी चीजोंकी तैयारी कर रहे थे। अगले दिन सुबह दस बजेकी गाड़ीसे जाना था।

''शामके समय मेरा छोटा पुत्र घरपर आया और उसने मुझसे कहा—'पिताजी! संदूकके आपने अभीतक ताला नहीं लगाया; मुझे चाभी दीजिये, मैं लगा दूँ।'

''मैं स्वयं ताला लगानेको खड़ा हुआ। स्वाभाविक रूपसे

* बहनके बच्चोंकी शादीमें दिये जानेवाले वस्त्राभूषण आदि।

मैंने संदूक खोलकर देखा कि सब सामान तो ठीकसे हैं न। देखनेके बाद पता चला कि उसमें गहनेका डिब्बा नहीं है। यह देखते ही मैं सन्न रह गया। मैंने अपनी पत्नीसे धीरेसे पूछा कि उसने डिब्बेको कहीं अलग सँभालकर तो नहीं रखा है। उसने विस्मयसे पूछा—'क्या संदूकमें डिब्बा नहीं है?' और इतना कहकर वह उदास हो गयी। मैंने उसको धीरज बँधाया और कहा—'अब शोरगुल करनेका कोई अर्थ नहीं है।'

"मैं चिन्तातुर हो गया—कल सुबह जाना है, रातभरमें दस तोलेके जेवर तैयार हों तो कैसे? बिना जेवर जाना भी ठीक नहीं। घरमें भी जैसे जेवर चाहिये, वैसे नहीं हो सकते। घरके बच्चोंने तो उस समय भोजन कर लिया, पर मुझे और मेरी पत्नीको भोजन करनेकी इच्छा ही नहीं हुई। हमलोग बिना भोजन किये ही रहे।'

"हमारे यहाँ खेतीके कार्यमें सहयोग देनेवाले दो साथी (खेत-मजदूर) रखे हुए थे। उनमेंसे एकने आकर रातके दस बजे मुझसे पूछा—'भाई साहब! आपने भोजन क्यों नहीं किया? क्या तबियत अच्छी नहीं है?' मैंने उसे जेवरके डिब्बेकी बात बतलाकर कहा—'किसीको कहना मत।' और वह सोनेके लिये चला गया।

"मुझे चिन्ताके कारण नींद नहीं आ रही थी। रातके बारह बजे वही साथी (खेत-मजदूर) मेरे पास फिर आया और कहने लगा—'भाई साहब! मैं आपसे एक बात कहने आया हूँ, पर मेरा हृदय काँप रहा है।' मैंने कहा—'बेखटके जो भी कहना हो, कहो; मैं किसीसे तुम्हारी बातकी चर्चा नहीं करूँगा।'

"मेरे द्वारा आश्वस्त होनेपर उस कर्मचारीने अपनी धोतीमें लपेटा हुआ डिब्बा मेरे सामने रख दिया और करुण स्वरसे कहने लगा—'मैंने ही आपकी संदूकसे यह डिब्बा निकाल लिया था। मैंने सोचा था कि इसे बेचकर पैसे बना लूँगा; किंतु आपकी उदासी देखनेके बाद मुझे बड़ा पछतावा हुआ। मुझे भी नींद हराम हो गयी। मेरे द्वारा यह बहुत बड़ा पाप हो गया, जो आपकी बहनको देनेके जेवरोंकी मैंने चोरी की। आपके अन्नका अंश मेरी आँतोंमें भरा हुआ है, उसकी भी मुझे शर्म नहीं आयी। जैसे वह आपकी बहन है, वैसे मेरी भी है। अब आप इस डिब्बेको सँभाल लीजिये और ये पाँच रुपये मेरी ओरसे बहनको........।' इतना कहते-कहते वह मेरे पाँव पकड़कर रोने लगा।

"मैंने उसे शान्त करते हुए कहा—'तुम अब चिन्ता न करो; मनुष्यसे भूल तो हो जाती है, किंतु पश्चात्तापद्वारा भूलको सुधार लेनेवाला देव होता है। मैं यह बात किसीको नहीं कहूँगा। किंतु अब मेरी एक बात तुम्हें माननी पड़ेगी।' 'आप जो भी कहेंगे मैं मान लूँगा, मालिक'—उसने कहा।

"मैंने कहा—'कल सुबह तुम्हें हमारे साथ विवाहमें सम्मिलित होना है; तुम अपने ही हाथसे ये पाँच रुपये बहनको देना।'

"वह राजी हो गया। बहनके घरमें उसने घरके सदस्यके समान शादीका काम-काज किया। आज उस घटनाको बहुत समय बीत गया है। अब उसके पास स्वयंका खेत है और वह सुखी है। मैं भी उस बातको भूलकर उसके घर प्रसङ्गवश आता-जाता हूँ।"

'अखण्ड आनन्द' —जैसंगकुमार धरजिया

(३)

'मैं रहूँगा तो ब्राह्मण-परिवार भी रहेगा'

बात संवत् १९८६ की है। हमारे परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) उन दिनों गोरखपुर शहरके उत्तरी भागमें रेलवे इंजन-शेडके समीप स्थित एक बगीचेमें रहते थे। यह बगीचा श्रीकान्तिबाबूका था और श्रीभाईजीने इसे किरायेपर ले रखा था। उन दिनों श्रीभाईजीपर भगवान्की कृपाकी वर्षा हो रही थी। भगवत्कृपाके विलक्षण प्रसङ्ग उस बगीचेमें घटित होनेके कारण श्रीभाईजीके प्रति स्नेह-सद्भाव रखनेवाले स्थानीय जालान (मारवाड़ी वैश्य) परिवारके एक बन्धुने वह बगीचा श्रीकान्तिबाबूसे खरीद लिया। उस बगीचेको खरीदनेमें उनकी आन्तरिक अभिलाषा यही थी कि श्रीभाईजी वहाँ बराबर रहें और उनकी उपस्थितिसे उसका महत्त्व बढ़ता चला जाय। परंतु दैवका कुछ और ही विधान था—'तेरे मन कछु और है, कर्त्ताके कछु और।'

उन दिनों गोरखपुर शहरमें बहुधा प्लेगका प्रकोप हो जाता था। उस वर्ष भी प्लेगका प्रकोप हुआ। शहरके लोग अपने घर खाली करके शहरके बाहरी हिस्सोंमें जाकर

रहने लगे। पर निर्धनता बड़ी क्रूर होती है। शहरके प्रसिद्ध साहबगंज मुहल्लेमें रहनेवाला एक निर्धन मारवाड़ी ब्राह्मण, जिसका नाम बनारसी था, प्लेगकी चपेटमें आया और ठीकसे उपचार न होनेके कारण चल बसा। उसकी अनाथा स्त्री और बच्चे प्लेगका प्रकोप देखकर ही आतङ्कित थे, अपने पति-पिताको प्लेगका ग्रास होते देखकर तो वे और भी भयभीत हो गये। अब वे घर छोड़कर शहरके बाहर कहीं शरण लेनेके लिये व्यग्र हो गये; किंतु निर्धनको कौन आश्रय दे? ऐसे भीषण समयमें जब सभी 'शरणार्थी' बने हुए थे, कौन उनकी व्यवस्था करे? ब्राह्मणपत्नीको किसीने श्रीभाईजीकी शरण ग्रहण करनेके लिये प्रेरित किया। ब्राह्मणपत्नी श्रीभाईजीसे मिली और श्रीभाईजीने उसे अपने आवास-स्थान—किरायेके बगीचेमें आकर रहनेके लिये कह दिया।

बगीचेके मालिक जालान-बन्धु भी साहबगंज मुहल्लेमें रहते थे। प्लेगके प्रकोपको देखकर वे भी बगीचेके उस हिस्सेमें जाकर रहने लगे थे, जो हिस्सा श्रीभाईजीके किरायेमें नहीं था। जालान-बन्धुको जब यह बात ज्ञात हुई कि बनारसी ब्राह्मणकी विधवा पत्नी और बच्चोंको श्रीभाईजी अपने हिस्सेके कमरोंमें लाकर ठहरा रहे हैं, तब वे भयभीत हो गये। जिस परिवारमें प्लेगके प्रकोपसे एक व्यक्तिकी मृत्यु हुई है, उसे अपने साथ शरण देना जालान-बन्धुको निरापद प्रतीत नहीं हुआ। मौतकी आशङ्कासे उनका हृदय काँप उठा। उन्होंने श्रीभाईजीसे प्रार्थना की—'उस ब्राह्मण-परिवारको बगीचेमें शरण नहीं देनी चाहिये। हमलोग भी सपरिवार वहाँपर रहने लगे हैं। ब्राह्मणकी मृत्यु प्लेगसे हुई है। अतएव उसके परिवारवालेंके साथ रहनेमें सभीको प्लेग हो जानेका भय है।'

श्रीभाईजीने उन बन्धुकी बात सुन ली और उन्हें प्रेमपूर्वक समझाया—'उस असहाय परिवारको शरण देना हमलोगोंका कर्तव्य है। किसी घरका एक व्यक्ति यदि प्लेगसे मर जाय तो क्या उसके अन्य सदस्योंसे भी प्लेग हो जानेका भय करना चाहिये? जब रोगका प्रकोप हो रहा है, उस समय बिना किसी भेद-भाव अथवा अन्यथा विचारके अपनी शक्तिभर लोगोंको शरण देनी चाहिये।'

श्रीभाईजीकी इस सीखका कुछ भी प्रभाव जालान-बन्धुपर नहीं पड़ा। वे किसी भी हालतमें अनाथ ब्राह्मण-परिवारका बगीचेमें रहना स्वीकार नहीं कर सके। आत्म-रक्षाकी चिन्तामें उन्होंने श्रीभाईजीके प्रति अपने प्यार और सद्भावको भी कोई महत्त्व नहीं दिया।

श्रीभाईजीको जालान-बन्धुकी यह हठधर्मी एवं भय सर्वथा अनुचित प्रतीत हुए। उन्होंने जालान-बन्धुको स्पष्ट कह दिया—'बगीचेमें मैं रहूँगा तो ब्राह्मण-परिवार भी रहेगा। यदि ब्राह्मण-परिवारको बगीचेमें शरण नहीं मिलेगी तो मैं भी इस बगीचेमें नहीं रहूँगा।' श्रीभाईजीके इतना कहनेपर भी जालान-बन्धुने अपना निश्चय नहीं बदला। उधर श्रीभाईजी अपनी कर्तव्य-भावनापर अडिग थे। परिणामस्वरूप उन्होंने जल्दी ही श्रीगोरखनाथ-मन्दिरके उत्तरकी ओर श्रीबालमुकुन्दजी गुप्ताका बगीचा किरायेपर ले लिया और उसमें स्थानान्तरित हो गये। पीछे जब श्रीभाईजी बगीचा छोड़कर जाने लगे, तब जालान-बन्धुको अपनी हठधर्मीपर बड़ा विचार हुआ, किंतु श्रीभाईजी उनके उस आग्रहको मान नहीं सके।

(४)

यह कर्जा कौन चुकायेगा?

'ईद नजदीक आ गयी है। बच्चोंके कपड़े बनवाने हैं। यदि आप अपनी तीन दिनकी तनख्वाह मुझे एक साथ दे दें तो मैं उससे बच्चोंके कपड़े बनवा लूँ।'—बगदादके एक खलीफाकी बेगमने अपने पतिदेवसे कहा। ये खलीफा बड़े ही नेकनीयत और ईमानदार थे। राज-काज तथा प्रजाकी सेवाके बदले वे रोज शामको केवल तीन किरम (बगदादका उस समयका प्रचलित सिक्का) पुरस्काररूपमें लिया करते थे। राज्यकी धन-दौलतसे उनका कोई सरोकार नहीं था। वे उसे प्रजाकी वस्तु मानते थे और स्वयंको उसका ट्रस्टी—सँभाल करनेवाला।

खलीफाने गम्भीर भावसे कहा—'तुम आज यह क्या बात कह रही हो? राज्यके खजानेसे तीन दिनका पुरस्कार पेशगी ले लूँ? यदि मैं तीन दिन जिंदा न रहा तो यह कर्जा कौन चुकायेगा? तुम खुदासे मेरे लिये तीन दिनकी जिंदगीका पट्टा ला दो तो मैं तुम्हें राज्यके खजानेसे तीन दिनका पुरस्कार पेशगी लेकर दे दूँगा।'

बेगम पतिदेवका उत्तर सुनकर चुप हो गयी।

(५)

सच्चे विश्वासका प्रभाव

गाँवके बाहर एक छोटी-सी किरानेकी दूकान थी। दूकानदारका स्वभाव इतना अच्छा था कि गाँवके सभी लोग उसकी दूकानसे माल खरीदना चाहते थे। दूकानदार प्रभुभक्त था। रात्रिमें चौकमें बैठकर वह सुमधुर कण्ठसे भजन गाता था। गाँवके लोग वहाँ आकर भजन सुनते थे तथा स्वयं भी प्रेमसे गाते थे।

जैसा लोगोंका विश्वास व्यापारीके ऊपर था, वैसा ही दृढ़ विश्वास व्यापारीका भी लोगोंके ऊपर था। दोपहरको भोजन करनेके लिये अपने घर जानेके समय दूकानपर बैठे हुए किसी भी व्यक्तिको वह दूकानदार अपनी दूकान सौंपकर भोजन करने चला जाता था। यह उसका नित्यका क्रम बन गया था।

एक दिन दोपहरके समय उसकी दूकानपर एक प्रसिद्ध डाकू आया और वहीं बैठ गया। कोई भी उसे पहचानता नहीं था कि वह डाकू है। भोजनका समय होते ही दूकानदारने उस डाकूको अपनी दूकान सौंप दी और स्वयं घर चला गया। उसके जानेके बाद वह डाकू दूकानपर बैठ गया और दूकानका लेन-देनका काम करने लगा।

उस समय डाकूकी टोलीका एक आदमी कुछ खरीद करनेके लिये आया और दूकानपर अपने साथीको ही बैठा हुआ देखकर उसने कहा—'दोस्त! बहुत अच्छा मौका मिला है, आज दोपहरके समयमें हाथ मारनेमें कोई मुश्किल नहीं। एक ही बारमें बेड़ा पार हो जायगा।'

'तुम जल्दीसे चले जाओ यहाँसे!'—दूकानपर बैठे हुए डाकूने लाल आँखें करके कहा। 'ऐसा विश्वासघात करनेसे तो हमारा सर्वनाश हो जायगा। यदि इस समय दूकानके प्रति तुम कुदृष्टि डालोगे तो तुम्हारी खैर नहीं।' अपने साथीसे इस प्रकारका उत्तर पाकर वह व्यक्ति चुप हो गया और अपनी आवश्यकताकी वस्तु खरीदकर चुपचाप लौट गया।

थोड़ी देरमें भोजन करके दूकानदार लौट आया। दूकान सँभाले हुए डाकूने खड़े होकर कहा—'महाशय! सँभाल लीजिये आपकी यह दूकान और गिन लीजिये पैसे; कोई हेर-फेर तो नहीं हुआ?'

'अरे भाई'—दूकानदार बोला। 'इस प्रकार क्यों बोलते हैं आप? मैं तो आपपर पूरा विश्वास करके ही दूकान सौंपकर गया था, फिर देखने-सुननेकी बात ही कहाँ है।'

दूकानदारके मुखसे ऐसे आत्मीयताभरे शब्द सुनकर डाकूका हृदय भर आया। उसने झुककर दूकानदारके चरणस्पर्श किये और अपना परिचय दिया। इतना ही नहीं, उसने प्रतिज्ञा की कि 'अब भविष्यमें कभी चोरी या डकैती नहीं करूँगा।'

एक अत्यन्त सामान्य व्यक्तिके ऊपर विश्वास करके उसके जीवनमें परिवर्तन लानेवाले दूकानदारका नाम था—'संत तुकाराम।' 'सुविचार'

—उपेन्द्र पंचाल

(६)

विश्वम्भर सबको सँभालता है

अपने उत्तरभारतके प्रवासकालमें स्वामी विवेकानन्द मध्याह्नमें एक छोटे-से स्टेशनपर रेलगाड़ीसे उतरे। उनके पास कपड़ेके रूपमें कौपीनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। साथमें पीनेका पानीतक नहीं था। बड़े जोरकी लू चल रही थी। प्लैटफार्मपर वे एक वृक्षकी छायामें बैठने गये, पर वहाँसे उठा दिये जानेपर एक खंभेका सहारा लेकर बैठ गये।

सामने ही एक बनिया एक छप्परमें दरी बिछाकर बैठा था। उसने स्वामीजीके साथ ही गाड़ीमें यात्रा की थी। यात्राकालमें स्वामीजीके पास पैसा न होनेसे वे पानीतकके लिये त्रस्त रहे और शरीर प्याससे जल रहा था। बनिया तो बीचमें प्रत्येक स्टेशनपर ठंडा पानी मँगवाकर पीता रहा और स्वामीजीसे कहता रहा—

'हे साधु भाई! देखो मैं कितना ठंडा पानी पी रहा हूँ। अगर तुम मेहनत करके पैसा कमाओ तो इसी तरह ठंडा पानी और सुस्वादु भोजन मिलता रहेगा।'

अब वही बनिया स्वामीजीके सामने छप्परमें बैठकर उनका मजाक उड़ा रहा था। जब वह दरी बिछाकर मौजसे भोजन करने लगा, तब स्वामीजी थोड़े आड़में पड़ गये। फिर भी वह उनको सुना-सुनाकर कहने लगा—

'देखो बाबाजी ! मैं किस तरह लड्डू, पूड़ी, जलेबी आदिका मजा ले रहा हूँ और आरामसे छाँहमें बैठा हूँ। तुम भूखसे तड़प रहे हो ।'

यों बोलते-बोलते वह हँसने लगा । उसकी ऐसी धृष्टता देखकर भी स्वामीजी चुपचाप बैठे रहे ।

इसी बीच भगवान्‌की कृपासे एक हलवाई आता हुआ दीख पड़ा । उसके एक हाथमें पोटली थी, दूसरे हाथमें जलपात्र तथा बगलमें दरी थी । जल्दी-जल्दी आकर उसने जलपात्र और पोटलीको नीचे रख दिया एवं वृक्षकी छाँहमें दरी बिछाकर हाथ जोड़कर स्वामीजीसे कहा—

'बाबाजी ! पधारिये और भोजन कर लीजिये ।'

स्वामीजी आश्चर्यसे देखते रहे । उन्होंने सोचा—'मुझे भोजन देनेवाला यह ईश्वरभक्त कहाँसे निकल आया ।' स्वामीजीने कहा—

'भाई ! मैं तो तुम्हें पहचानता नहीं; कदाचित् तुम किसी दूसरेके लिये भोजन लाये हो ।'

स्वामीजीकी बातके बीचमें ही वह बोल उठा—

'नहीं, महाराज ! यह भोजन तो मैं आपके लिये ही लाया हूँ । मैं देख रहा हूँ कि वे आप ही हैं, जिनके लिये मैं भोजन लाया हूँ ।'

स्वामीजीने फिर कहा—'तुम मुझे अच्छी तरह देख लो ।'

आगन्तुक सज्जनने उत्तर दिया—"देखिये स्वामीजी ! मैं आपसे अपनेमें बीती बात बताता हूँ । इस स्टेशनपर मेरी दूकान है । मैं हलवाई हूँ । अभी थोड़ी देर पूर्व मेरी आँख लग गयी थी, तब स्वप्नमें मुझे श्रीरामजीके दर्शन हुए । आपका भी दर्शन कराते हुए उन्होंने कहा—'मेरा यह भक्त पिछले दिनसे भूखा है । उसके लिये जल्दीसे पूड़ी और साग तैयार कर लो तथा जाकर उसको भोजन कराओ । साथमें ठंडा पानी भी लेते जाओ; क्योंकि इस समय ठंडा पानी नहीं मिलता ।' इसी बीचमें मेरा स्वप्न टूट गया और मैं श्रीरामजीकी आज्ञाके अनुसार पूड़ी और साग बनाकर तथा थोड़ी ताजी मिठाई रखकर ले आया हूँ । आप भोजन कर लीजिये ।"

स्वप्नकी बात सुनकर तथा भगवान्‌के सौहार्दका स्मरण करके स्वामीजीके नेत्र भर आये । वे चुपचाप बैठ गये और भगवान्‌का भेजा हुआ प्रसाद पाने लगे ।

दूर बैठा बनिया यह सब देखकर आश्चर्यचकित हो गया । उसे अनुभव हुआ—'मैंने स्वामीजीके साथ अभद्र व्यवहार किया है, अपनी अभद्रताके लिये मुझे उनसे क्षमा माँगनी चाहिये ।' वह स्वामीजीके पास आया और उनके चरणोंपर गिर पड़ा तथा अपने अभद्र व्यवहारके लिये क्षमा माँगने लगा । इतना ही नहीं, उसने स्वामीजीके चरणोंकी धूल लेकर अपने मस्तकपर चढ़ायी ।

स्वामीजीके मनमें तो कुछ था ही नहीं । वे तो विश्वम्भरकी वत्सलताका स्मरण करके गद्गद हो रहे थे ।

(७)

शिष्यको गुरुके चरणोंमें उपस्थित होना ही चाहिये

'डाक्टर ! आप मुझे शरीर-शास्त्रकी दृष्टिसे रंगका विश्लेषण नहीं सिखायेंगे ?' भारतके ही नहीं, विश्वके प्रसिद्ध वैज्ञानिक नोबेल-पुरस्कारप्राप्त डा० सी० वी० रामन्‌ने एक युवक वैज्ञानिकसे प्रश्न किया । इस युवक वैज्ञानिकने शरीर-शास्त्रकी दृष्टिसे रंगका अध्ययन किया था और डाक्टर रामन्‌का भौतिक-शास्त्रकी दृष्टिसे रंगका अध्ययन था ।

डा० रामन्‌के प्रश्नको सुनते ही युवक वैज्ञानिक आश्चर्यचकित हो गया । उसके लिये यह अकल्पनीय बात थी । इतने महान् वैज्ञानिक उससे वार्तालाप ही कर लें—यह उसके लिये गौरवकी बात थी; फिर वे उससे कुछ सीखनेकी इच्छा प्रकट कर रहे हैं—यह देखकर युवकका हृदय भर आया । उसने बड़ी ही नम्रतासे निवेदन किया—'महाशयजी ! मैं आपके समक्ष एक नगण्य विद्यार्थी हूँ । हाँ, आपकी सेवामें अपने अध्ययनके विषयकी कुछ जानकारी निवेदन करनेमें मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी । आप अपनी सुविधाका समय बतानेकी कृपा करें; मैं उसी समय अपने विषयका साहित्य, चार्ट, नक्शे आदि लेकर सेवामें उपस्थित हो जाऊँगा ।'

डाक्टर रामन्‌ने सहज भावसे हँसते हुए उत्तर दिया—'डाक्टर ! हमलोग भारतीय हैं । हमारे देशकी यह गौरवमयी परम्परा है कि शिष्य गुरुके चरणोंमें उपस्थित होता है । जिससे कुछ सीखा जाय, वही गुरु । मैं आपसे एक विषयकी

जानकारी प्राप्त करना चाहता हूँ; आप उस विषयमें मेरे गुरु होंगे । अतः मुझे आपके पास आना ही चाहिये । आप अपना समय बता दें, मैं उसी समय आपके पास आ जाऊँगा ।'

डाक्टर रामन्‌के ये शब्द इतनी आत्मीयतासे पूर्ण थे कि युवक वैज्ञानिकको समय बताना पड़ा । डाक्टर रामन् एक शिष्यकी विनम्रता, आदरभाव और जिज्ञासा लेकर वैज्ञानिकके यहाँ गये ।

(८)

कर्तव्य-भावना

अपने एक स्नेहीसे, जो अस्पतालमें भर्ती थे, मिलनेके लिये मैं गया । परस्पर कुशल-समाचार पूछनेके बाद हम बैठे-बैठे बातचीत कर रहे थे कि हमलोगोंके पाससे एक सज्जन निकले । मेरे स्नेही भाईने उनका परिचय देते हुए कहा—'ये सज्जन प्रत्येक रोगीके बिछौनेपर जाकर प्रतिदिन दतुअन दे जाते हैं ।' मैंने अनुमान लगाया कि यह व्यवस्था अस्पतालकी ओरसे होगी । हमलोग इस सम्बन्धमें चर्चा कर ही रहे थे कि वे सज्जन हमारे पास आये और मेरे स्नेहीको उन्होंने दो दतुअन दिये । वे सफेद सादे कपड़ोंमें थे और उनकी अवस्था लगभग पैंतीस वर्षकी होगी ।

मेरे स्नेहीने उनसे प्रश्न किया—'यह कार्य आपको अस्पतालवालोंकी ओरसे सौंपा हुआ है क्या ?' इसके उत्तरमें वे बड़ी नम्रतासे कहने लगे—'नहीं, मैं यह कार्य स्वयंकी प्रेरणासे ही कर रहा हूँ । दतुअन-जैसी तुच्छ वस्तुसे यदि मानव-सेवाका कार्य हो सकता हो तो उसमें कर्तव्य-पालनका संतोष तो मिलता ही है ।'

'इस कार्यके लिये आपको कहींसे सहायता मिलती है ? अगर कोई सहायता देना चाहे तो आप उसे स्वीकार कर सकते हैं या नहीं ?'—बीचमें ही मैंने प्रश्न किया ।

'जी हाँ' वे सज्जन बोले । 'सहायता ली जा सकती है, किंतु पैसेके रूपमें नहीं । दतुअनके रूपमें यदि कोई सहायता देना चाहे तो दे सकते हैं ।'

'दतुअनके बदले यदि कोई पैसा देना चाहे तो ?' मैंने फिर प्रश्न किया ।

'जी नहीं'—उन सज्जनने हँसते-हँसते उत्तर दिया । 'किसीको भविष्यमें ऐसी शङ्का होने लगे कि पैसे लेकर यह अपना लाभ उठाता होगा; अतः आरम्भसे ही यह निश्चय कर लिया गया है कि जिनको सहायता करनेकी इच्छा हो, वे दतुअन खरीदकर मुझे दे दें ।'

'कितना समय लगता है इस कार्यको करनेमें ?' मैंने पुनः पूछा । उन सज्जनने बताया—'प्रतिदिन तीन-चार घंटे तो लग ही जाते हैं । मैं शिक्षक हूँ, इतना समय तो सहजमें निकाल लेता हूँ ।'

'जैसे दतुअन प्राप्त करनेमें किसीकी सहायता मिल जाती है, वैसे ही इस वितरण-कार्यमें भी आपको किसीकी सहायता मिल जाती होगी ?' मैंने अन्तिम प्रश्न कर दिया ।

'यह सेवा बहुत छोटी है ।'—बड़ी ही नम्रतासे उन्होंने उत्तर दिया । 'आजके प्रवृत्तिमय युगमें ऐसे कार्यमें कौन ध्यान देगा ? हाँ, कभी-कभी मेरी पत्नी रोगियोंके पास दतुअन पहुँचानेके कार्यमें सहायता कर देती है । इस कार्यमें परिश्रम तो अधिक लगता है; परंतु जबतक शरीरमें शक्ति है, तबतक इस कर्तव्य-भावनाके निर्वाहमें मुझे बड़ा आनन्द मिलता है ।'

'आपने यह मौलिक सेवाका काम उठाया है'—मैंने धन्यवादके साथ वन्दन करते हुए कहा । 'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः'—सेवाधर्म बड़ा कठिन है, योगियोंके लिये भी वह अगम्य है ।'

'मैं धनवान् तो नहीं हूँ'—वे बोले । 'परंतु स्वयम्भू प्रेरणासे यह सेवाव्रत लिया है; आपलोगोंके सहयोगसे उसे परमात्मा निभा रहे हैं ।' यों कहते हुए वे दूसरे बिछौनेकी ओर आगे बढ़ गये । हम दोनोंने कर्तव्य-भावनासे अनुप्राणित उन महानुभावका हृदयसे वन्दन किया ।

'अखण्ड आनन्द'

—बकुलेश हरिकेश भट्ट

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ४६

[साधारण अङ्क-संख्या २ से १२ तककी विषय-सूची । विशेषाङ्ककी विषय-सूची उसीके आरम्भमें देखनी चाहिये, वह इसमें सम्मिलित नहीं है]

सं० २०२८-२०२९ वि०

सन् १९७२ ई०

की

निबन्ध, कविता और संकलित विषय

तथा

चित्र-सूची

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसाद जी पोद्दार
सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
* [प्रकाशक—मोतीलाल जालान]

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य भारतमें रु० १०.००
विदेशके लिये रु० १६.०० (१८ शिलिंग)
साधारण अङ्क—बिना मूल्य

निबन्ध-सूची

पद्य

संकलित पद्य

संकलित

तिरंगे चित्र

रेखाचित्र

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

आकार—डबल-क्राउन आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ६०२, सुन्दर तिरंगे चित्र १२, कपड़ेकी सुन्दर मजबूत जिल्द, मूल्य ९.००, डाकखर्च २.३०, कुल लागत ११.३०।

परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अत्यन्त निकटस्थ एक 'साधु'ने आजसे लगभग छत्तीस वर्ष पहले उनके प्रेमपूर्ण अनुरोधपर भगवान् श्रीकृष्णकी व्रजलीलाओंका एक छोटा-सा शब्दचित्र प्रतिमास 'कल्याण'में देनेके लिये प्रस्तुत कर देना स्वीकार किया था और यह क्रम कई वर्षोंतक अनवरतरूपसे चलता रहा। वे शब्दचित्र 'श्रीकृष्ण-लीलाका चिन्तन' शीर्षकसे धारावाहिकरूपसे 'कल्याण'में छपते रहे। 'कल्याण'के प्रेमी पाठक-पाठिकाओंके आग्रहसे उन्हींको पुस्तकाकारमें प्रकाशित किया गया है।

इस ग्रन्थमें लीलाओंका क्रम श्रीमद्भागवतके अनुसार रखा गया है और भगवान्‌के जन्मसे लेकर उनकी बाल-लीलाओं एवं पौगण्ड-लीलाओंका ही वर्णन इसमें है। आशा है, पाठकोंको इस ग्रन्थके अध्ययनसे श्रीकृष्णकी दिव्य मनोहारिणी लीलाओंका अनुशीलन करनेमें पर्याप्त सहायता मिलेगी।

श्रीमद्भागवतगान

(रचयिता—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीरामदत्तजी पर्वतीकर 'वीणा महाराज')

आकार—डबल क्राउन आठपेजी, पृष्ठ-संख्या २८०, सचित्र, कपड़ेकी सुन्दर मजबूत जिल्द, मूल्य ४.५०, डाकखर्च १.७०, कुल लागत ६.२०।

श्रीपर्वतीकरजी संत तथा परमभागवत भक्त हैं। यह किसी कविके द्वारा रचित ग्रन्थ नहीं है, इसके पीछे है रचयिताका पवित्र भागवत-जीवन। इसी दृष्टिसे इस ग्रन्थको प्रकाशित किया गया है और इसी दृष्टिसे इसे पढ़ना-सुनना चाहिये; तभी इसका मर्म समझमें आयेगा। यों इसकी भाषा 'संतई' है, जो वर्तमान प्रचलित हिंदीसे भिन्न है। महाराष्ट्रके प्राचीन संतोंने जिस हिंदीमें काव्य-रचनाएँ की हैं, प्रायः उसी भाषामें इसकी भी रचना हुई है। आशा है, पाठकगण इस संत-रचित ग्रन्थसे लाभ उठायेंगे।

श्रीनारायणीयम्

(सरल भावार्थसहित)

आकार—डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ४०४, विश्वविमोहन मोहनका सुन्दर तिरंगा चित्र, कपड़ेकी मजबूत सुन्दर जिल्द, मूल्य ३.००, डाकखर्च १.६०, कुल लागत ४.६०।

यह छोटा-सा स्तोत्रात्मक काव्य केरल-प्रदेशनिवासी विद्वान् भक्त श्रीभट्टनारायणतिरिकी रचना है। इसमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की गयी है और श्रीमद्भागवतके प्रायः सारे प्रसङ्ग संक्षेपमें वर्णित हैं। इस ग्रन्थरत्नमें कुल १०३६ पद्य हैं। पूरा ग्रन्थ सौ दशकोंमें विभक्त है; इनमेंसे एक दशकमें नौ तथा शेषमेंसे कुछमें दस और कुछमें ग्यारह पद्य निविष्ट हैं। भक्ति-रसका परिपोषक होनेके कारण यह 'स्तोत्ररत्न' तो है ही, काव्यगुण भी इसमें प्रचुर मात्रामें होनेसे इसे 'काव्यरत्न' भी कह सकते हैं। श्रीमद्भागवतके समान इसे भी लोग आशीर्वादात्मक ग्रन्थ मानते हैं। केरल-प्रदेशमें लौकिक मनोरथोंकी सिद्धिके लिये श्रीमद्भागवतकी तरह इसका भी लोग पारायण करके अभीष्ट-लाभ करते हैं। आशा है, भगवदनुरागी लोग इससे लाभ उठायेंगे।

[महर्षि वेदव्यासप्रणीत]

श्रीनरसिंहपुराण

(मूल संस्कृत हिंदी-अनुवादसहित)

आकार—डबल क्राउन आठपेजी, पृष्ठ-संख्या २७८, सचित्र, मूल्य ३.००, डाकखर्च, १.७० कुल लागत ४.७०।

इस पुराणकी गणना यद्यपि उपपुराणोंमें है, तथापि यह एक परम प्राचीन ग्रन्थ है। यह पुराण सभी प्रकार पवित्र, आकर्षक, धर्म-सदाचारादिके उपदेशोंसे सुसज्जित, भगवद्भक्ति एवं ज्ञान-विज्ञानसे ओत-प्रोत है। भगवान् विष्णुके अवतारोंकी कथा इसमें विस्तारसे प्रतिपादित है। यह 'कल्याण'के विशेषाङ्कके रूपमें निकल चुका है; परंतु पाठकोंके आग्रहवश अब इसे अलगसे प्रकाशित किया गया है। आशा है, श्रेयस्कामी भक्त एवं विद्वान् पाठक इससे लाभ उठायेंगे।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० एल्० १७५

'कल्याण'के कृपालु हितैषियों, ग्राहकों और पाठकोंसे नम्र-निवेदन

(१) भगवान्की अहैतुकी कृपासे इस अङ्कमें 'कल्याण'का ४६ वाँ वर्ष पूरा हो रहा है। मार्च १९७१ में हमारे परम श्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके नित्यलीलालीन हो जानेपर हम सर्वथा असहाय हो गये थे और सोच नहीं पा रहे थे कि 'कल्याण' किस प्रकार चलेगा; परंतु भगवान्की मङ्गलमयी इच्छा, प्रेरणा एवं शक्तिसे आरम्भ हुआ 'कल्याण' उनकी इच्छा और कृपासे निरन्तर विकसित होता रहा और आशा है, भविष्यमें भी इसी प्रकार विकसित होता रहेगा। इन २१ मासमें भी उस कृपाने ही सँभाला है उसे। श्रीभाईजी भी अपरोक्षरूपमें हमें सँभाले हुए हैं ही। २१ मासकी यह अर्चना कितनी सरस, कितनी सुवासित तथा कितनी भावपूर्ण हुई है, यह तो हमारे सहृदय पाठक-पाठिकाएँ ही जानते हैं; हम तो उसमें त्रुटि-ही-त्रुटि अनुभव करते हैं।

भगवान्की मङ्गलमयी व्यवस्थाके अनुसार देशके सभी प्रमुख आचार्यों, महात्माओं, संतों, विद्वानों, विचारकों, भक्तों आदिने 'कल्याण'को उसके प्रवर्तनकालसे ही अपना माना है तथा अपने आशीर्वाद, सत्परामर्श एवं अमूल्य रचनाओंद्वारा इसे परम उपादेय और समुन्नत करनेका प्रयत्न किया है एवं इसके प्रचार-प्रसारमें भी अकथनीय सहयोग दिया है। हम अपने उन सभी गुरुजनों, प्रेमियों, हितैषियों, स्वजनोंके ज्ञात-अज्ञात उपकारों, सौहार्द एवं आत्मीयताके प्रति हृदयसे कृतज्ञ हैं। हमारी उन सभी महानुभावोंके श्रीचरणोंमें विनम्र प्रार्थना है कि भविष्यमें भी वे अपना सहज आशीर्वाद एवं सहयोग इसी प्रकार प्रदान करते रहें।

(२) आगामी विशेषाङ्क 'श्रीविष्णु-अङ्क'में भगवान् श्रीविष्णुसे सम्बद्ध सभी महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक विषयोंपर प्रामाणिक एवं सुरुचिपूर्ण सामग्री रहेगी। भगवान्के चौबीस अवतारोंके चरित भी विभिन्न ग्रन्थोंके आधारपर तैयार करवाकर दिये गये हैं। अङ्कका कार्य तेजीसे चल रहा है। आशा है, जनवरीके अन्तिम सप्ताहतक अङ्क तैयार हो जायगा और फरवरीके प्रथम सप्ताहसे उसे ग्राहक महानुभावोंकी सेवामें भेजना आरम्भ कर दिया जायगा। ग्राहक महानुभाव उस अवधितक कृपया धैर्य रखें, पत्र-व्यवहार न करें तथा इस विलम्बके लिये अपने शील एवं सौहार्दकी ओर देखकर हमें क्षमा करें।

(३) इस वर्ष भी 'कल्याण'का मूल्य दस रुपये ही है। ग्राहकोंको शीघ्र अपना वार्षिक शुल्क भेज देना चाहिये। नये ग्राहकोंको भी शीघ्र रुपया भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये। इस अङ्ककी माँग विशेष होनेकी सम्भावना है। रुपये भेजते समय पुराने ग्राहक मनीआर्डर-कूपनमें अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। नाम, ग्राम या मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' अवश्य लिखें। रुपये व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे भेजने चाहिये। जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें, जिससे व्यर्थ ही 'कल्याण'-कार्यालयको डाक-खर्चकी हानि न सहनी पड़े। इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और बहुत विलम्बसे दिये जानेकी सम्भावना है। वैसे सजिल्द अङ्कका मूल्य ११.५० (ग्यारह रुपये पचास पैसे) है।

—सम्पादक